॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

३३

श्रीवाग्भटप्रणीतः

वाग्भटालङ्कारः

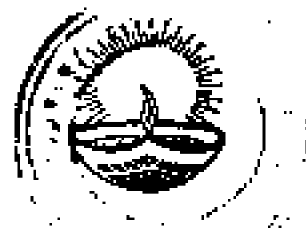
सिंहदेवगणिविरचितया संस्कृतटीकया समेतः

अभिनव 'शशिकला' हिन्दीटीकया च विभूषितः

हिन्दीटीकाकारः—

डॉ० सत्यव्रतसिंह एम. ए.

(संस्कृताध्यापक, लखनऊ विश्वविद्यालय)



चौखम्बा विद्याभवन, चौक, वाराणसी—१

सं० २०१४] मूल्यं २) [ई० १९५७

भूमिका



वाग्भटालङ्कार के प्रणेता

आलङ्कारिक वाग्भट प्रथम

'वाग्भटालङ्कार' के रचयिता 'वाग्भट' को वाग्भट प्रथम कहना आवश्यक है क्योंकि इसी नाम के एक और आलङ्कारिक हो चुके हैं जिन्होंने 'काव्यानुशासन' की रचना की है। 'काव्यानुशासन' के रचयिता वाग्भट द्वितीय ने स्वयं वाग्भटालङ्कार के प्रणेता वाग्भट प्रथम का उल्लेख किया है—

'दण्डिवामनवाग्भटादिप्रणीता दश काव्यगुणाः। वयं तु माधुर्यौजःप्रसादलक्षणांस्त्रीनेव गुणान् मन्यामहे।' (काव्यानुशासन, पृष्ठ ३१)

अर्थात् दण्डी, वामन और वाग्भट (प्रथम) आदि अलङ्काराचार्यों ने तो काव्य के दस गुणों का निरूपण किया है किन्तु हम (अर्थात् वाग्भट द्वितीय) केवल माधुर्य, ओज और प्रसाद—इन्हीं तीन गुणों को काव्यगुण मानने को तैयार हैं।

अलङ्कारशास्त्रकारों में 'वाग्भट' नाम के ये दोनों आलङ्कारिक जैनमतानुयायी हो चुके हैं किन्तु परवर्ती वाग्भट (काव्यानुशासनकार) के द्वारा अपने पूर्ववर्ती किंवा समाननामा वाग्भटालङ्कार-प्रणेता वाग्भट का उल्लेख दोनों के परस्पर भिन्न होने किंवा भिन्न-भिन्न अलङ्कार-ग्रन्थों के प्रणयन करने का एक प्रामाणिक संकेत है जिसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता।

आयुर्वेद के प्रकरणग्रन्थ 'अष्टाङ्गहृदय' के रचयिता भी 'वाग्भट' नाम के ही आचार्य हो चुके हैं किन्तु इन्हें वाग्भटालङ्कार के प्रणेता 'वाग्भट प्रथम' से अभिन्न नहीं माना जा सकता क्योंकि दोनों की वंश-परम्परा भिन्न-भिन्न है और दोनों का कार्य-काल भी एक नहीं।

वाग्भट प्रथम का जीवनवृत्त

वाग्भटालङ्कार के रचयिता वाग्भट प्रथम के सम्बन्ध में इतना तो निःसन्दिग्ध है कि ये जैनधर्म के अनुयायी थे। वाग्भटालङ्कार का निम्न आरम्भ-मङ्गल जैनधर्म और जैनदर्शन के प्रति वाग्भट की आस्था और मनस्तुष्टि—दोनों का संकेत करता प्रतीत होता है—

'श्रियं दिशतु वो देवः श्रीनाभेयजिनः सदा।
मोक्षमार्गं सतां ब्रूते यदागमपदावली॥'

अर्थात् हे श्रीनाभेय जिन, जिनकी सिद्धान्त-परम्परा सत्पुरुषों के लिये मोक्षमार्ग का निरूपण किया करती है, आप सब को कल्याण-लक्ष्मी दें।

'श्रीनाभेयजिन' इस पद में 'श्रीश्च नाभेयो ब्रह्मा च श्रीनाभेयौ, ताभ्यामुपलक्षितो जिनः विष्णुः श्रीनाभेयजिनः' अर्थात् लक्ष्मी किंवा ब्रह्मा से पुरस्कृत विष्णु भगवान् आदि अर्थ की गवेषणा, जो कि वाग्भटालङ्कार के एक-आध व्याख्याकारों द्वारा की जा चुकी है, वाग्भट को जैनधर्म के अतिरिक्त अन्य धर्म का अनुयायी नहीं सिद्ध कर सकती। उपर्युक्त मंगलश्लोक में 'अतिशयचतुष्टय' अर्थात् ज्ञानातिशय, पूजातिशय, अपायापगमातिशय और वचनातिशय का जो स्पष्ट संकेत है (क्योंकि जैन-साहित्य की परम्परा में 'देव' वह है जो केवल ज्ञानश्री से देदीप्यमान है, श्रीनाभेयजिन' वह है जो 'श्री अथवा अष्टमहाप्रातिहार्यादि लक्ष्मी से सदा संयुक्त किंवा रागद्वेषादिरिपुचक्र का विजेता है और 'मोक्षमार्ग' का प्रदर्शक वह है जो 'रत्नत्रय' की आराधन-साधना में सिद्ध है) वह इसी बात का प्रमाण है कि वाग्भट की आस्था 'रत्नत्रय' के प्रति रह चुकी है और वाग्भट की मनस्तुष्टि 'जैनागमपद्धति' पर केन्द्रित है।

वाग्भट प्रथम ने अपने वंश के सम्बन्ध में कुछ थोड़ा सा संकेत किया है जो कि वाग्भटालङ्कार के चतुर्थ परिच्छेद में रूपकालङ्कार के इस उदाहरण-श्लोक में स्पष्ट है—

> **बंभण्डसुत्तिसंपुडमुत्तिअमणिणो पहासमूह व्व।**
> **सिरिवाहडत्ति तणओ आसि बुहो तस्स सोमस्स॥**
>
> (ब्रह्माण्डशुक्तिसम्पुटमौक्तिकमणेः प्रभासमूह इव।
> श्रीवाग्भट इति तनय आसीद् बुधस्तस्य सोमस्य॥)

'वाग्भटालङ्कार' के व्याख्याकार श्री सिंहदेवगणि ने इस उदाहरण-श्लोक की अवतरणिका के रूप में जो यह निर्देश किया है—

'इदानीं ग्रन्थकारः इदमलङ्कारकर्तृत्वख्यापनाय वाग्भटाभिधस्य महाकवेर्महामात्यस्य तन्नाम गाथयैकया निदर्शयति।' (दे० पृ० ७५)

तथा एक और व्याख्याकार श्री जिनवर्धनसूरि का जो यह उल्लेख है—

'तस्य सोमस्य वाहड इति नाम्ना तनय आसीत्'

जिसकी पुष्टि वाग्भट के ही तीसरे व्याख्याता श्रीक्षेमहंसगणि ने इस प्रकार से की है—

'तस्य सोमस्य वाहड इति तनय आसीद्'

वह सब यही सिद्ध करता है कि वाग्भट का प्राकृत नाम 'वाहड' रह चुका है और वाग्भट के पिता का नाम 'सोम' था।

वाग्भट का निवासस्थान 'अणहिल्लपट्टन' (अनहिलवाड) प्रतीत होता है। वाग्भट ने अपनी नगरभूमि का इस प्रकार स्मरण किया है—

'अणहिल्लपाटकं पुरमवनिपतिः कर्णदेवनृपसूनुः ।
श्रीकलशनामधेयः करी च रत्नानि जगतीह ॥'

(वाग्भटालङ्कार ४. १३१)

अर्थात् जगतीतल के प्रत्यक्ष दृश्यमान 'रत्नत्रय' में प्रथम रत्न है अणहिल्लपाटननामक नगररत्न, द्वितीय रत्न है चालुक्य श्रीजयसिंहदेवनामक राजरत्न और तृतीय रत्न है श्रीकलशनामक गजरत्न।

वाग्भट की उपर्युक्त सूक्ति 'समुच्चय' अलङ्कार की उदाहरण-सूक्ति है जिसमें 'अत्युत्कृष्ट वस्तुओं का एकत्र निबन्धन' प्रदर्शित किया गया है। 'अनहिलवाड' के प्रति वाग्भट का अगाढ़ स्नेह निवासभूमि के प्रति कवि की हृदयानुरक्ति का ही परिचायक है। जैनधर्म के 'रत्नत्रय' के महान् आदर्श और अनहिलवाड, चालुक्य जयसिंहदेव और श्रीकलशगजराज के परस्पर उपमानोपमेयभाव का प्रदर्शन तब तक कोई स्वारस्य रखता नहीं प्रतीत होता जब तक वाग्भट और अनहिलवाड का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध न मान लिया जाय।

वाग्भट और चालुक्य श्रीजयसिंहदेव का सम्बन्ध तो सिद्ध ही है क्योंकि वाग्भटालङ्कार की कतिपय सूक्तियाँ श्रीजयसिंहदेव की स्तुति और प्रशस्ति का ही अभिप्राय रखती हैं। उदाहरण के लिये यह सूक्ति—

'इन्द्रेण किं यदि स कर्णनरेन्द्रसूनुरैरावतेन किमहो यदि तद्द्विपेन्द्रः ।
दम्भोलिनाऽप्यलमलं यदि तत्प्रतापः स्वर्गोऽप्ययं ननु मुधा यदि तत्पुरी सा ॥'

(वाग्भटालङ्कार ४. ७५)

श्री कर्णराज के पुत्र चालुक्य श्रीजयसिंहदेव को इन्द्र का समानधर्मा बताती हुई वाग्भट के राजप्रेम की सूचना दे रही है।

इसी प्रकार यह सूक्ति—

'जगदात्मकीर्तिशुभ्रं जनयन्नुद्दामधामदोःपरिघः ।
जयति प्रतापपूषा जयसिंहः क्ष्माभृदधिनाथः ॥' (वाग्भटालङ्कार ४. ४५)

जिसमें चालुक्य श्रीजयसिंहदेव का नाम-संकीर्तन स्पष्ट है, वाग्भट और समसामयिक चालुक्य-दरबार के पारस्परिक सम्बन्ध का स्पष्ट प्रमाण है।

वाग्भट ने चालुक्य श्रीजयसिंहदेव का और भी विशद वर्णन किया है—

'इन्द्रः स एष यदि किं न सहस्रमक्ष्णां लक्ष्मीपतिर्यदि कथं न चतुर्भुजोऽसौ ।
शर्वः स्वयम्भुवनभञ्जनतोद्धुरताञ्चभूतः श्रीकर्णदेवनृपसूनुरयं रणाग्रे ॥'

(वाग्भटालङ्कार ४. ८०)

'अन्यत्वमु पौरुषगुणाज्जयसिंहदेवपृथ्वीपतेर्मृगपतेश्च समानभावाः।
किंत्वेकतः प्रतिभटाः समरं विहाय सद्यो विशन्ति वनमन्यमशङ्कमानाः॥'

जिससे यह स्पष्ट है कि कवि को अपने आश्रयदाता चालुक्य श्रीजयसिंहदेव पर अभिमान है और चालुक्यराज्य के ताम्रचूड-ध्वज के गौरव का ध्यान है।

प्रो० बूह्लर के अनुसार अनहिलवाड के चालुक्यराजवंश की जो वंशावली है उसमें श्रीजयसिंहदेव का राज्यकाल १०९३ से ११४३ ई० तक निर्दिष्ट है। इस प्रकार वाग्भट का भी समय उपर्युक्त ही सिद्ध होता है।

'वाग्भटालङ्कार' के रचयिता वाग्भट का उपर्युक्त कार्यकाल अन्य प्रमाणों से भी सिद्ध किया गया है। श्री प्रभाचन्द्रसूरिरचित 'प्रभावकचरित' में वाग्भट के संबन्ध में जो यह उल्लेख है—

'अथास्ति बाहडो नाम धनवान् धार्मिकाग्रणीः।
गुरुपादान् प्रणम्याथ चक्रे विज्ञापनामसौ॥
आदिश्यतामतिश्लाघ्यं कृत्यं यत्र धनं व्यये।
प्रभुराहालये जैने कृत्यस्य सफलो व्ययः॥
आदेशानन्तरं तेनाकार्यत श्रीजिनालयः।
हैमाद्रिधवलस्तुङ्गो दीप्यत्कुम्भमहामणिः॥
श्रीमाता वर्धमानस्यार्चीं भरद्विम्बमुत्तमम्।
यत्तेजसा जिताश्मन्(चन्द्र)कान्तमणिप्रभाः॥
शतैकादशके साष्टसप्ततौ विक्रमार्कतः।
वत्सराणां व्यतिक्रान्ते श्रीमुनिचन्द्रसूरयः॥
आराधनाविधिश्रेष्ठं कृत्वा प्रायोपवेशनम्।
शमपीयूषकल्लोलप्लुतास्ते त्रिदिवं ययुः॥
वत्सरे तत्र चैकेन पूर्णे श्रीदेवसूरिभिः।
श्रीवीरस्य प्रतिष्ठां स बाहडोऽकारयन्मुदा॥

उसका यही अभिप्राय है कि वाग्भट ११२३ ई० (११७९ विक्रम संवत) के हैं और उनका नाम 'बाहड' रह चुका है जिसका संस्कृत रूपान्तर 'वाग्भट' है। वाग्भट एक धनी किंवा परम धार्मिक जैनोपासक हो चुके हैं और उन्होंने जिनालय-जैनमन्दिर की स्थापना में अपने धन का सद्व्यय किया था।

प्रभावकचरित की ये पंक्तियाँ भी वाग्भट के उपर्युक्त कार्यकाल की ही पुष्टि करती हैं :—

अणहिल्लपुरं प्राप क्ष्मापः मालवजयोद्यतः।
महोत्सवप्रवेशस्य राजारूढपुरेन्द्रवत्॥

वाग्भटस्य विहारं स दत्त्वा प्रसाधनम् ।
अन्येद्युर्वाग्भटामात्यं धर्माम्भिकवासनः ॥
अपृच्छदार्हताचारोपदेष्टारं गुरुं नृपः ॥
श्रीमद्वाग्भटदेवोऽपि जीर्णोद्धारमकारयत् ।
शिखीन्दुरविवर्षे (१२१३) च ध्वजारोपं व्यधापयत् ॥[1]

अर्थात् विक्रम संवत् १२१३ (११५७ ई०) में अमात्यप्रवर वाग्भट ने जैनविहार का जीर्णोद्धार किया और एक ध्वजस्तम्भ की स्थापना की ।

वाग्भटालङ्कार का प्रचलन

वाग्भटालङ्कार की कई एक प्राचीन टीकायें हैं जिनमें ये ५ प्रसिद्ध हैं—

(१) जिनवर्धनसूरिप्रणीत टीका ।

(२) सिंहदेवगणिप्रणीत टीका ।

(३) क्षेमहंसगणिप्रणीत टीका ।

(४) अनन्तभट्टसुत गणेशप्रणीत टीका ।

(५) राजहंसोपाध्यायप्रणीत टीका ।

इन टीकाओं से वाग्भटालङ्कार के समसामयिक प्रचलन और पठन-पाठन का पर्याप्त परिचय मिलता है ।

वाग्भटालङ्कार : विषय-परिचय

वाग्भटालङ्कार के रचयिता वाग्भट प्रथम का ग्रन्थ छोटा होते हुये भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । साहित्य-शास्त्र के जिज्ञासुओं की साहित्यविषयक जिज्ञासा इस एक ही लघुकाय ग्रन्थ से पूरी हो सकती है—यह कहने में अत्युक्ति न होगी । ग्रन्थ के नामकरण से ग्रन्थकार का अभिप्राय अलङ्कारशास्त्र पर एक ग्रन्थ का प्रणयन करना प्रतीत होता है; किन्तु ग्रन्थ को आद्योपान्त पढ़ जाने के उपरान्त ज्ञात होता है कि वाग्भट ने अपने उद्देश्य से भी अधिक महत्त्वपूर्ण एवं काव्योपयोगी सामग्री को इस छोटे से ग्रन्थ में सन्निविष्ट कर दिया है ।

'वाग्भटालङ्कार' पाँच परिच्छेदों में विभक्त है । प्रथम तीन परिच्छेदों में काव्य-सम्बन्धी आवश्यक बातों पर प्रकाश डाल चुकने के पश्चात् चतुर्थ परिच्छेद में अलङ्कारों का विवेचन किया गया है । तत्पश्चात् अन्तिम परिच्छेद में रसादि विषयों का निरूपण करके ग्रन्थ को समाप्त किया गया है । ग्रन्थ में सन्निविष्ट सम्पूर्ण सामग्री पर एक विहंगम दृष्टिपात कर लेने से ग्रन्थ का सम्पूर्ण कलेवर हस्तामलकवत् हो जायेगा । इससे अध्ययन-

अध्यापन में सुविधा हो सकेगी। इस उद्देश्य से निम्न पंक्तियों में पृथक् पृथक् परिच्छेद में किन-किन विषयों का निरूपण किया गया है—यह दिखाया जा रहा है।

प्रथम परिच्छेद मङ्गलाचरण से प्रारम्भ होता है। मङ्गलाचरण की प्रथा भारतीय शास्त्र में अत्यन्त प्राचीन है। आचार्यों ने तीन प्रकार के मङ्गलाचरण बतलाये हैं—आशीर्वादात्मक, नमस्क्रियात्मक और वस्तुनिर्देशात्मक। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आचार्य वाग्भट जैनमतावलम्बी थे। अतः उन्होंने 'नाभेयजिन' की स्तुति करते हुए नमस्क्रियात्मक मङ्गलाचरण किया है। जैन वाग्भट के लिये भगवान् जिन ही सर्वशक्तिमान् हैं, उनकी शास्त्रनिर्णीत सिद्धान्त-परम्परा सज्जनों के लिये मोक्षमार्ग का निर्देश करनेवाली है, अतः उनकी स्तुति से ही श्री की प्राप्ति भी सम्भव है। मङ्गलश्लोक के उपरान्त ग्रन्थकार को अपनी अभीष्ट-सिद्धि अलङ्कारशास्त्र का अध्ययन करना है। आखिर अलङ्कारों की कोई स्वतन्त्र सत्ता भी है या केवल अलङ्कार-निरूपण से ही ग्रन्थकार को सन्तोष हो जाय? वह तो काव्य का अङ्ग है। अङ्ग को समझने के लिये अङ्गी का विचार कर लेना आवश्यक होता है और विषय-प्रतिपादन में सहायक भी। अतः मङ्गलाचरण के अनन्तर अलङ्कार का अङ्गीभूत काव्य का फल बताया गया है। फल के ज्ञान के बिना किसी वस्तु में रुचि भी तो नहीं उत्पन्न की जा सकती। अस्तु!

आचार्य वाग्भट के अनुसार सत्काव्य की सृष्टि कीर्ति-प्राप्ति के लिये है। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि आचार्य मम्मट ने काव्य का फल कीर्ति-प्राप्ति को तो स्वीकार ही किया है, साथ ही धनोपार्जन, व्यवहारज्ञान, अकल्याण-निवारण, परमानन्द की प्राप्ति और प्यारी स्त्री की मनभावनी सम्मिति का लाभ भी उन्होंने काव्य का प्रयोजन माना है। देखिये—

> **काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।**
> **सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥** (का. प्र. १. २)

वास्तव में मम्मट-निर्दिष्ट यश से भिन्न अन्य प्रयोजन भी यशःसाध्य के लिये साधन-मात्र ही कहे जा सकते हैं। अतः वाग्भट का काव्य-फल-निर्देश परम्परा-विरुद्ध नहीं कहा जा सकता।

काव्य-फल-निरूपण के अनन्तर काव्योत्पत्ति की सामग्री पर विचार किया गया है। कविता का कारण है प्रतिभा; और व्युत्पत्ति है उस काव्य का आभूषण—शोभाधायक अङ्ग। अभ्यास से अविलम्ब काव्यरचना की शक्ति प्राप्त होती है। पुनः प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास का रूप-निरूपण किया गया है। वाग्भट के मत से कविता में अभ्यास बढ़ाने के लिये सबसे प्रथम बन्धचारुत्व से युक्त निरर्थक पदसमूह के सङ्घटन द्वारा भी यथाशक्ति समस्त छन्दों पर अपना अधिकार करना चाहिये। काव्य में बन्धचारुत्व किस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—यह जान लेना भी असङ्गत न होगा। संयुक्त वर्णों के पूर्व

लघ्वक्षर का गुरुवत् उच्चारण करना, विसर्गों का लोप न करना तथा श्रुतिकटुत्वादि दोषों को ला देने वाली सन्धि का परित्याग करते रहना—ये तीन उपाय बताये गये हैं जिनसे काव्य में बन्धचारुत्व लाया जा सकता है।

पश्चाद्गुरुत्वं संयोगाद्विसर्गाणां विलोपनम् ।
विसन्धिवर्जनं चेति बन्धचारुत्वहेतवः ॥ (१. ९)

काव्याभ्यास कैसे करना चाहिये—इस ओर भी आचार्य वाग्भट ने ध्यान दिया है। साथ ही उन्होंने यह भी बतलाया है कि काव्याभ्यासी को किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिये, जिससे काव्य दूषित भी न होने पाये और नवाभ्यासी कवि भी निर्विघ्न रूप से सतत काव्य-प्रणयन में संलग्न रह सके। नवाभ्यासियों के पथ-प्रदर्शन-हेतु कवि-परम्परा-सिद्ध मान्यताओं का भी संक्षिप्त वर्णन करके ग्रन्थकार ने ग्रन्थ की उपादेयता और भी बढ़ा दी है। यहाँ पर कुछ कविप्रौढोक्तियों का उल्लेख कर देना असङ्गत न होगा। आचार्य वाग्भट के अनुसार भुवनों का तीन, सात अथवा चौदह संख्या में करना चाहिये। इसी प्रकार यश को शुभ्रवर्ण और अपयश को कज्जलवर्ण बतलाना चाहिये। इसके अतिरिक्त कुछ और भी कविप्रौढोक्तियों का वर्णन है; जैसे—ऐरावत गज को शुभ्रवर्ण कहना; समुद्र को चार या सात संख्या में वर्णित करना; दिशाओं को चार, आठ या दशसंख्यक बतलाना तथा यमक, श्लेष और चित्रादि अलङ्कारों में बन्ध-शैथिल्य के भय से बकार-वकार तथा डकार और लकार में भेद न मानना इत्यादि—

भुवनानि निबध्नीयात् त्रीणि सप्त चतुर्दश ।
अभ्रवद्वर्ण्या सिता कीर्तिरकीर्तिश्च ततोऽन्यथा ॥
वारणं शुभ्रमिन्द्रस्य चतुरः सप्त वाम्बुधीन् ।
चतस्रः कीर्तयेद् वाष्टौ दश वा ककुभः क्वचित् ॥
यमकश्लेषचित्रेषु बवयोर्डलयोर्न भित् ।
नानुस्वारविसर्गौ च चित्रभङ्गाय सम्मतौ ॥ (१. १८–२०)

इस प्रकार नवोदित कविसमुदाय का पथ निर्दिष्ट करके द्वितीय परिच्छेद में काव्य-शरीर पर विचार किया गया है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और पैशाची—ये चार भाषायें काव्य-शरीर का निर्माण करती हैं। व्याकरणशास्त्र-सम्मत देवभाषा को संस्कृत कहते हैं; उस (संस्कृत) से उत्पन्न तथा उससे मिलती-जुलती विभिन्न देशों में अनेक प्रकार से बोली जाने वाली भाषा प्राकृत है; भिन्न-भिन्न देशों में शुद्ध भाषान्तर से मिली हुई अपभ्रंश कहलाती है और पिशाचों की भाषा को पैशाची कहते हैं। सम्पूर्ण वाङ्मय को वाग्भट ने दो भागों में विभक्त किया है—छन्दोबद्ध वाङ्मय को पद्य और उससे भिन्न वाङ्मय को गद्य कहते हैं।

संस्कृतं प्राकृतं तस्यापभ्रंशो भूतभाषितम् ।
इति भाषाश्चतस्रोऽपि यान्ति काव्यस्य कायताम् ॥
संस्कृतं स्वर्गिणां भाषा शब्दशास्त्रेषु निश्चिता ।
प्राकृतं तज्जतत्तुल्यदेश्यादिकमनेकधा ।
अपभ्रंशस्तु यच्छुद्धं तत्तद्देशेषु भाषितम् ।
अङ्कुरैस्त्यज्यते किञ्चित्सौतिकमिति स्मृतम् ॥
छन्दोनिबद्धमच्छन्द इति तद् वाङ्मयं द्विधा ।
पद्यमाद्यं तदन्यच्च गद्यं मिश्रं च तद् द्वयम् ॥ (२. १–४)

आचार्य वाग्भट ने दोषों को तीन भागों में विभक्त किया है—पददोष, वाक्यदोष और वाक्यार्थदोष । पददोष हैं—अनर्थक, श्रुतिकटुत्व, विरुद्धार्थप्रतीति, अलक्षण, स्वसङ्केतप्रक्लृप्तार्थ, अप्रसिद्ध, असम्मत और ग्राम्य । खण्डित, व्यस्तसम्बन्ध, असम्मित, अपक्रम, छन्दःशास्त्रविरुद्ध, वैदर्भी, गौणी आदि रीतियों से रहितत्व, यति-भङ्ग और क्रियापद-रहितत्व—ये आठ वाक्यदोष गिनाये गये हैं । अर्थदोषों की गणना इस प्रकार से की गयी है—देशविरुद्ध, कालविरुद्ध, शास्त्रविरुद्ध, अवस्थाविरुद्ध, द्रव्यविरुद्ध और गुणक्रियाविरुद्ध । साथ ही क्रमशः इन सभी दोषों के उदाहरण भी दे दिये गये हैं जिससे प्रत्येक दोष का स्वरूप विशेषतः स्पष्ट हो सके ।

तृतीय परिच्छेद में गुण-दर्शन कराया गया है । सर्वप्रथम गुण के प्रयोजन का विचार किया गया है । गुण-प्रयोजन बतलाते हुये आचार्य वाग्भट कहते हैं—

अदोषावपि शब्दार्थौ प्रशस्येते न यैर्विना ।
तानिदानीं यथाशक्ति ब्रूमोऽभिव्यक्तये गुणान् ॥ (३–१)

अर्थात् जिन गुणों के बिना अनर्थकत्व, श्रुतिकटुत्व आदि दोषों से रहित भी शब्द और अर्थ श्लाघनीय नहीं कहे जाते, उन गुणों का यथाशक्ति वर्णन किया जाता है । इस प्रकार काव्य में शोभाधान करना ही गुणों का प्रयोजन मानना चाहिये । भामह, दण्डी और रुय्यक आदि आचार्यों की भाँति वाग्भट ने भी दश गुणों को स्वीकार किया है—औदार्य, समता, कान्ति, अर्थव्यक्ति, प्रसाद, समाधि, श्लेष, ओज, माधुर्य और सुकुमारता—ये दश गुण गिनाये गये हैं ।

चतुर्थ परिच्छेद में केवल अलङ्कारों का ही वर्णन है । दोषरहित, गुणयुक्त काव्य भी तब तक मन को नहीं भाता जब तक वह उचित अलङ्कार-आभरण से अलंकृत न हो । इस दृष्टि से काव्य में अलङ्कारों की वही उपादेयता है जो एक सुन्दरी के लिये आभूषणों की । अलङ्कार दो प्रकार के माने गये हैं—शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार । शब्दालङ्कार चार हैं—चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास और यमक । जाति, उपमा, रूपक, प्रतिवस्तूपमा, भ्रान्तिमान, आक्षेप, संशय, दृष्टान्त, व्यतिरेक, अपह्नुति, तुल्ययोगिता, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तर-

न्यास, समासोक्ति, विभावना, दीपक, अतिशय, हेतु, पर्यायोक्ति, समाहित, परिवृत्ति, यथासंख्य, विषम, सहोक्ति, विरोध, अवसर, सार, संश्लेष, समुच्चय, अप्रस्तुतप्रशंसा, एकावली, अनुमान, परिसंख्या, प्रश्नोत्तर और सङ्कर—ये पैंतीस अर्थालङ्कार गिनाये गये हैं। चित्रालङ्कार में भी एकस्वरचित्र, मात्राच्युतचित्र, बिन्दुच्युतचित्र, एकव्यञ्जनचित्र और व्यञ्जनच्युतचित्र—ये पाँच भेद किये गये हैं। इसी प्रकार वक्रोक्ति के दो भेद माने गये हैं—सभङ्गश्लेषमूलवक्रोक्ति और अभङ्गश्लेषमूलवक्रोक्ति। अनुप्रास के दो भेद बताये गये हैं—छेकानुप्रास और लाटानुप्रास। वाग्भट ने यमक के अष्टादश भेद बताए हैं।

अर्थालङ्कारों में उपमा के इतने भेद बतलाये गये हैं—उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वयोपमा, अनेकोपमेयमूला उपमा और अनेकोपमानमूला उपमा। उपमा के विभिन्न भेदों को बतला चुकने के पश्चात् उपमागत दोष बतलाये गये हैं। रूपक के जिन भेदों की ओर आचार्य वाग्भट की दृष्टि गयी है वे हैं—अखण्डसमस्तरूपक, असमस्तअखण्डरूपक, समस्तखण्डरूपक और असमस्तखण्डरूपक। विरोध अलङ्कार दो प्रकार का बतलाया गया है—प्रथम तो वह जहाँ शब्दजनित विरोध हो और द्वितीय जहाँ अर्थजन्य विरोध हो। अभिन्नपदमूल और भिन्नपदमूल—ये दो श्लेष के भेद कहे गये हैं। अनुमान अलङ्कार के तीन भेद किये गये हैं—अतीतबोधक अनुमान, अनागतवस्तुज्ञानरूप अनुमान और वर्तमानवस्तुज्ञानरूप अनुमान। प्रश्नोत्तर तीन प्रकार का माना गया है—जहाँ उत्तर स्पष्ट हो, जहाँ वह अस्पष्ट हो और जहाँ वह स्पष्ट और अस्पष्ट उभयरूप हो।

यहाँ ध्यान देने की बात तो यह है कि कुछ अलङ्कारों के भेद-प्रभेद गिनाने में वाग्भट बहुत आगे बढ़ गये हैं, किन्तु कुछ ऐसे अलङ्कारों को उन्होंने छोड़ दिया है, जिनका अन्य आलङ्कारिकों ने वर्णन किया है। इसका कारण स्वयं वाग्भट ने इस प्रकार बतलाया है—

> अचमत्कारिता वा स्यादुक्तान्तर्भाव एव वा।
> अलङ्कियाणामन्यासामनिबन्धनिबन्धनम् ॥ (४. १४९)

अर्थात् जो अलङ्कार ग्रन्थान्तर में विद्यमान रहते हुये भी इस पुस्तक में नहीं कहे गये हैं उनके न कहने का कारण यही है कि उनमें या तो चमत्कारविशेष ही नहीं है अथवा उनका भी समावेश उक्त अलङ्कारों में हो जाता है।

प्रस्तुत परिच्छेद में रीतियों पर भी विचार किया गया है। अधिकांश आलङ्कारिकों ने तीन रीतियों को स्वीकार किया है—वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चाली। वाग्भट इन आचार्यों से सहमत नहीं हैं, वे केवल दो ही रीतियों को मानते हैं। वे रीतियाँ हैं—गौडीया और वैदर्भी। जिसमें समास-बाहुल्य हो वह गौडीया और जिसमें समासों का अभाव या न्यूनत्व हो वह वैदर्भी रीति कहलाती है।

पञ्चम परिच्छेद में ग्रन्थ की समाप्ति की गयी है। इसमें मुख्यतः रसों पर ही विचार किया गया है; किन्तु प्रसङ्गवश नायक और नायिका-भेद का भी उचित उल्लेख हुआ है। सर्वप्रथम रसों का महत्त्व बताया गया है—जिस प्रकार उत्तम रीति से पकाया हुआ भी खाद्य पदार्थ नमक के बिना नीरस लगता है, इसी प्रकार रसहीन काव्य भी विद्वानों के लिये अनास्वाद्य रहता है। तदनन्तर रस का लक्षण बताकर उनके नामों की गणना की गयी है। शृङ्गार, वीर, करुण, हास्य, अद्भुत, भयानक, रौद्र, बीभत्स और शान्त—ये नव रस हैं जिनके स्थायी भाव क्रमशः हैं—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और शम। सर्वप्रथम शृङ्गार रस का निरूपण हुआ है। शृङ्गार के दो पक्ष हैं—संयोग और वियोग। शृङ्गार में कैसा नायक होना चाहिये—यह बताकर नायकों के विभिन्न भेदों की गणना की गयी है। वाग्भट ने नायक के चार भेदों का उल्लेख किया है—अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट। नायिकाओं के भी चार भेद बतलाये गये हैं—अनूढा, स्वकीया, परकीया और पणाङ्गना। तदुपरान्त विभिन्न प्रकार के नायक-नायिकाओं का पृथक्-पृथक् लक्षण बताया गया है। चार प्रकार का विप्रलम्भ शृङ्गार बतलाया गया है—पूर्वानुरागात्मक, मानात्मक, प्रवासात्मक और करुणात्मक। इन सबका पृथक्-पृथक् लक्षण-निरूपण हुआ है। इसके पश्चात् क्रमशः एक-एक रस पर विचार हुआ है। हास्य के विभिन्न भेदों का भी उल्लेख है।

ग्रन्थ की परिसमाप्ति जिस श्लोक से हुई है वह इस प्रकार है—

दोषैरुज्झितमाश्रितं गुणगणैश्चेतश्चमत्कारिणं
नानालङ्कृतिभिः परीतमभितो रीत्या स्फुरन्त्या सताम्।
तैस्तैस्तन्मयतां गतं नवरसैराकल्पकालं कविः
स्रष्टारो घटयन्तु काव्यपुरुषं सारस्वताध्यायिनः॥

अर्थात् वाङ्मय के अध्येता कवि प्रजापति दोषों से रहित, गुणों से युक्त, अनेक अलङ्कारों द्वारा मन में चमत्कार पैदा करनेवाले, वैदर्भी आदि रीतियों से युक्त, शृङ्गार आदि नवरसों के साथ तन्मयता को प्राप्त हुये काव्यपुरुष को कल्पपर्यन्त रचते रहें। प्रस्तुत श्लोक में सद्भावना व्यक्त करने के साथ ही सम्पूर्ण ग्रन्थ का सिंहावलोकन भी हो गया है। ग्रन्थ में विभिन्न परिच्छेदों में जिस क्रम से भिन्न-भिन्न विषयों का निरूपण हुआ है, वही क्रम इस श्लोक में सुरक्षित रखा गया है। अतः यह श्लोक ग्रन्थ की अनुक्रमणिका-रूप में भी समझा जा सकता है। अस्तु, उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो है कि काव्य के प्रत्येक आवश्यक अङ्ग पर आचार्य वाग्भट ने विचार किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ केवल अलङ्कारों का ही ग्रन्थ नहीं अपितु काव्यशास्त्र का एक पूर्ण प्रारम्भिक ग्रन्थ है।



अकारादिविषयानुक्रमणिका






॥ श्रीः ॥

वाग्भटालङ्कारः

संस्कृत-हिन्दी-व्याख्याद्वयोपेतः

प्रथमः परिच्छेदः

श्रियं दिशतु वो देवः श्रीनाभेयजिनः सदा।
मोक्षमार्गं सतां ब्रूते यदागमपदावली॥१॥

श्रीवर्धमानजिनपतिरनन्तविज्ञानसन्ततिर्जयति
यद्गीः प्रदीपकलिका कलिकालतमः शमं नयति॥
वाग्भटकवीन्द्ररचितालंकृतिसूत्राणि किमपि विवृणोमि।
मुग्धजनबोधहेतोः स्वस्य स्मृतिजननवृद्ध्यै च॥

इह 'शिष्टाः क्वचिदिष्टे वस्तुनि प्रवर्तमानाः अभीष्टदेवतानमस्कारपूर्वकमेव प्रवर्तन्ते' इति शिष्टसमयपरिपालनाय, तथा 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपि। अश्रेयसि प्रवृत्तानां क्वापि यान्ति विनायकाः॥' इति वचनान्माभूदस्य शास्त्रस्य काव्यार्थिनां सम्यग्ज्ञानोपदेशकतया श्रेयोभूतस्य कोऽपि विघ्न इति विघ्नोपशान्तये च शास्त्रारम्भेऽभीष्टदेवतानमस्कारं महाकविः श्रीवाग्भटः प्रकटयति—**श्रियमिति**। श्रीनाभेयजिनो वः श्रियं दिशतु इति संटङ्कनम्। नाभेरपत्यं नाभेयः। 'इतोऽनिञः' इत्येयण्। श्रिया युक्तो नाभेयः श्रीनाभेयः। 'मयूरव्यंसकादयश्च' इति मध्यमपदलोपी समासः। श्रीनाभेयश्चासौ जिनश्चेति कर्मधारयः। दीव्यति दिव्यकेवलज्ञानश्रिया दीप्यत इति देवः। एतेन भगवतो ज्ञानातिशयः सूचयाञ्चक्रे। श्रीनाभेय इत्यत्र श्रिया अष्टमहाप्रातिहार्यादिलक्ष्म्या युक्तत्वप्रतिपादनेन प्रभोः पूजातिशयः प्रत्यपादि। जयति रागद्वेषादिरिपूनपराभवतीति जिनः। अनेन परमेश्वरस्यापायापगमातिशयो ज्ञापितः। मोक्षमार्गमित्यादिनोत्तरार्धेन पुनः स्वामिनो वचनातिशयः ख्यापितः। एवं चत्वारोऽप्यतिशयाः प्रज्ञाप्यन्ते स्म। 'यत्तदोर्नित्यसंबन्धः' इत्युक्तेः स इति गम्यते। ततश्च स श्रीनाभेयजिनो वो युष्माकं श्रियं कल्याणलक्ष्मीं ददात्विति भावः। स क इत्याह—यस्य भगवत आगमपदानां सिद्धान्तवचनानामावली श्रेणिः सतां विदुषामुत्तमानां मोक्षस्य मार्गं सम्यग्ज्ञानाद्याराधनरूपं

बूते ब्रवीति । प्रकाशयतीत्यर्थः । अथान्यस्यापि कस्यचिदागमस्याप्ततस्य पदानि पात्रप्रतिबिम्बानि तेषां पद्धतिरिष्टा सती सतां पन्थानं प्रकटयतीत्युक्तिलेशः । तथा शास्त्रादौ त्रिविधानां देवतानां स्तुतिः संभवति—समुचितायाः, इष्टायाः, समुचितेष्टायाश्चेति । तत्र समुचिताया देवतायाः स्तुतिर्यथा नीतिशास्त्रारम्भे राजादेः काव्यशास्त्रारम्भे स्मरादेः । इष्टायाः स्तुतिर्यथा रघुकाव्ये शिवगौर्योः । समुचितेष्टायाः स्तुतिर्यथा श्रीयोगशास्त्रारम्भे महावीरयोगिनाथस्येति । अत्र पुनः शास्त्रारम्भे श्रीनाभेयनमस्कारेणाभीष्टदेवतास्तुतिं प्रचक्रे वाग्भटः । अथवा त्रिधोऽष्टमहाप्रातिहार्यादिलक्ष्म्या इनः स्वामी श्रीनः । 'ञिभीङ् भये' । भीयते इति भेयम् । 'भावे च यद्वाच्यः' इति यः । भयमित्यर्थः । न विद्यते भेयं संसारभ्रमोद्भवं भयं यस्य सोऽभेयः । जिनः श्रुतकेवल्यपि भण्यते, तस्यापि भावो रागादिजयात् । तन्निरासार्थमभेयश्चासौ जिनश्चाभेयजिन इति । एवंविधश्च सामान्यकेवल्यपि लभ्यते, तस्य भवभ्रमभयाभावात् । तन्निराकरणार्थं श्रीनश्चासावभेयजिनश्च श्रीनाभेयजिनः इति । एवंविधश्चार्हन्नेव भवतीति सामान्येनार्हतां नमस्कारः कृतो भवति ।

यद्वा काव्यशास्त्रस्य सर्वेषामपि साधारणोपयोगित्वाद्वैष्णवानामपि [illegible] व्याख्या । यथा—श्रीविष्णुपक्षे । नाभेरुत्पन्नत्वाद्ब्रह्मापि नाभेयः कथ्यते । 'विष्णोर्नाभिसरोजकमले विश्वकर्तुर्निवासः' इति लोकोक्तेः । तथा चाहुः—'नाभिभूः पद्मभूः—' इत्यादि तन्नामानि । जिनो विष्णुः । 'पीताम्बरो मार्जजिनौ कुमोदकः' इति चिन्तामणिवचनात् । ततश्च श्रीश्च नाभेयश्च श्रीनाभेयौ ताभ्यामुपलक्षितो जिनः श्रीनाभेयजिनः स श्रियं दिशतु । वाशब्दोऽव्ययमवधारणे पूरणे वा । किंविशिष्टः । उद्वैकः 'उरीश्वरः' इत्येकाक्षरनाममालावचनात्—उः शंभुः स एव पूज्यत्वादेको यस्य स तथा । तदुक्तम्—'ब्रह्माच्युताभ्यर्चितपादपद्मो न पूज्यते किं मनुजैर्गिरीशः' इति ।

ननु नमस्कारस्य विघ्ननिघाते कथं सामर्थ्यम् । उच्यते—नमस्कारेण पुण्यमुपजायते, पुण्येन विघ्नाः प्रतिहन्यन्ते इति । यत्रापि च नमस्कारमन्तरेणापि निर्विघ्ना शास्त्रपरिसमाप्तिर्दृश्यते तत्रापि मानसिकः प्रणिधानरूपोऽयं पदत एवेति सफलो नमस्कारव्यापारः । इति प्रथमपद्यार्थः ॥ १ ॥

जिनकी जैनागमतुल्य सिद्धान्तपरम्परा सज्जनों के लिये मोक्ष-पथ का प्रदर्शन करने वाली है, वे भगवान् श्री ऋषभदेव आप लोगों को श्री-सम्पन्न करते रहें ॥१॥

किं च—

'मङ्गलं चाभिधेयं च सम्बन्धश्च प्रयोजनम् ।
चत्वारि कथनीयानि शास्त्रस्य धुरि धीमता ॥'

तत्र मङ्गलमभिहितं नमस्कारवचनेन । अभिधेयं चात्र शास्त्रे सम्यक्काव्यस्वरूपम् । संबन्धश्चास्य वाच्यवाचकभावादिः । तथाहि—एतच्छास्त्रं वाचकम्, सम्यक्काव्यस्वरूपं वाच्यम् । उपायोपेयभावो वात्र संबन्धः । वचनरूपापन्नमिदं शास्त्रमुपायः । तत्परिज्ञानं चोपेयमिति । प्रयोजनं त्वनन्तरं शिष्याणां शास्त्रार्थपरिज्ञानम् । परम्परं तु सम्यक्कवित्वलब्धिरूपस्या

कीर्तिप्रभृति । शास्त्रार्थस्य त्वनन्तरं प्रयोजनं शिष्यानुग्रहः । परम्परं तु तदेव । ऐहिकमिह-सुखम्, पारत्रिकं तु परम्परप्रयोजनमुभयेषामपि निःश्रेयसावाप्तिरिति । अतो यदुच्यते केनचित्—'नारब्धव्यमिदं शास्त्रमभिधेयादिरहितत्वात्काकदन्तपरीक्षावत्' इति, तन्न किञ्चित्, उक्तप्रकाराभिधेयादिदर्शनात् । अमुमेवार्थं समर्थयितुं वक्ष्यमाणार्थपरिच्छेदकमो-द्देशगर्भं काव्यफलमाह—

साधुशब्दार्थसन्दर्भं गुणालङ्कारभूषितम् ।
स्फुटरीतिरसोपेतं काव्यं कुर्वीत कीर्तये ॥ २ ॥

अत्र प्रस्तावाच्छिष्यः कर्ता गम्यते । ततः शिष्यः काव्यं कवेः कर्म काव्यम् । 'पति-राजान्तगुण' इति यणि प्रत्यये साधुः । कुर्वीत विदधीत । कस्यै । कीर्त्यै यशसे । इति फलनिर्देशः । अत एव 'कुर्वीत' इत्यत्र फलवत्कर्तर्यात्मनेपदविधानम् । काव्यं किंविशिष्टम् । साधुशब्दार्थसंदर्भं वक्ष्यमाणेनानर्थकत्वादिना दोषेण रहितः शब्दः साधुः । अर्थस्तु वक्ष्यमाणेन देशविरुद्धत्वादिना दोषेण विमुक्तः साधुर्भवति । ततश्च साधू निर्दोषौ शब्दार्थौ यस्मिन्संदर्भे स साधुशब्दार्थः संदर्भो रचना यत्र तत्तथा । साधुशब्दार्थयोः संदर्भो यत्रेति विग्रहं कुर्वन्ति । तत्र समासप्राप्तिरस्फुटा । यद्वा—शब्दार्थयोः संदर्भः शब्दार्थसंदर्भः साधुः शब्दार्थसंदर्भो यत्रेति विग्रहः कार्यः । 'साधुशब्दार्थ—' इत्यनेन च शब्दार्थप्रतिपादको द्वितीयः परिच्छेदः सूचितः । तथा—गुणा औदार्यादयः, अलंकाराश्च शब्दालंकारा वक्रो-क्त्यादयः, आर्थास्तु जात्युपमादयः, तैर्भूषितम् । अलंकृतमित्यर्थः । अनेन च तृतीयो गुणपरिच्छेदः, चतुर्थश्चालंकारपरिच्छेदः सूचितः । तथा—स्फुटाः काव्यानुकूलत्वेन प्रकटा या रीतयो गौडीयाद्याः पदरचनाविशेषाः, रसाश्च शृङ्गारादयो वक्ष्यमाणाः, तैरुपेतमन्वितम् । अनेन चतुर्थपरिच्छेदे रीतिप्रतिपादनं ज्ञापितम्, पञ्चमश्च रसपरिच्छेदः सूचितः । प्रथमः पुनरयं शिक्षापरिच्छेदः । काव्यस्य चानेकगुणत्वेऽपि कीर्तेरेव ग्रहणं प्राधान्यख्यापनार्थम् । यावता हि कवित्वं धर्मं, व्यवहारपरिज्ञानं, अशिवोपशमनं, सहृदयानां चाह्लादं करोति । इदमेव च कवित्वं कान्तासंमितभूतं कान्तेव सरसतापादनेनाभिमुखीकृत्य 'रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवत्' इत्युपदेशं च विधत्ते इति । तदुक्तं काव्यप्रकाशे राजानकश्रीमम्मटकवीन्द्रेण—'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये । सद्यः परनिर्वृतये कान्तासंमिततयोपदेश-युजे ॥' त्रिविधं हि शास्त्रम् । यथा—प्रभुसंमितं शब्दप्रधानं वेदादि । सुहृत्संमितमर्थ-तात्पर्यवत्पुराणादि । कान्तासंमितं लोकलक्षणं विशिष्टकाव्यादि—इति । एतद्विपरीतं काव्यं विपरीतफलमेव स्यादिति व्यतिरेकार्थः ॥ २ ॥

अलङ्कारशास्त्र काव्य का एक अङ्ग है, अतः काव्य के जो फल हैं वही अलङ्कार-शास्त्र के फल होंगे। इस दृष्टि से काव्य-फलों का वर्णन करते हैं—साध्विति।

यशःप्राप्ति के लिये कवि को ऐसे काव्य की रचना करनी चाहिये जो साधु शब्द और अर्थ से पूर्ण हो। इतना ही नहीं, वह (काव्य) में (औदार्यादि) गुण,

(उपमादि) अलंकार, (वैदर्भी आदि) रीतियाँ और (शृंगार आदि) नव रसों को भी स्पष्ट रूप से विद्यमान रहना चाहिए।

टिप्पणी—मम्मट आदि काव्यशास्त्र के आचार्यों ने 'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये। सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥' यह काव्य का प्रयोजन स्वीकार किया है, किन्तु आचार्य वाग्भट काव्य का एकमात्र उद्देश्य कीर्ति मानते हुए प्रतीत होते हैं ॥ २ ॥

अथ कवित्वस्योत्पत्तये सामग्रीमुपदिशन्नाह—

प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम् ।
भृशोत्पत्तिकृदभ्यास इत्याद्यकविसङ्कथा ॥ ३ ॥

'सर्वं हि वाक्यं सावधारणमामनन्ति' इति न्यायात् प्रतिभैव तस्य काव्यस्य कारणं हेतुर्भवति। नवनवबोधप्रकारशालिनी बुद्धिः प्रतिभा। 'बुद्धिर्नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता' इति वचनात्। ननु यदि प्रतिभैव काव्योत्पत्तेर्बीजं तदा व्युत्पत्तिः किं करोति। उच्यते—तस्य काव्यस्य प्रतिभया जन्यमानस्य व्युत्पत्तिर्भूषणमलङ्कारो भवतीत्यर्थः। अभ्यासस्तु पुनःपुनस्तदासेवनलक्षणस्तस्य काव्यस्य भृशमुत्पत्तिं करोति भृशोत्पत्तिकृद्भवति। अभ्यसने हि सतः स्थैर्यशैघ्र्यादिविशिष्टकाव्योत्पत्तेः। एवं प्रतिभाव्युत्पत्त्यभ्यासानां त्रयाणामपि स्वस्वविषयः पार्थक्येन प्रदर्शितः। इति पूर्वोक्तप्रकारः पुराणकवीनां संकथोपदेशः ॥ ३ ॥

प्राचीन कवियों का मत है कि प्रतिभा काव्योत्पत्ति का हेतु है, व्युत्पत्ति से उस (काव्य) में शोभा का आधान होता है और अभ्यास से शीघ्र ही काव्य-रचना सम्भव होती है ॥ ३ ॥

अथ ग्रन्थकारः प्रतिभां व्याख्यातुमाह—

प्रसन्नपदनव्यार्थयुक्त्युद्बोधविधायिनी ।
स्फुरन्ती सत्कवेर्बुद्धिः प्रतिभा सर्वतोमुखी ॥ ४ ॥

प्रसन्नान्यक्लिष्टानि यानि पदानि। तथा नव्याभिनवा यार्थयुक्तिः। ततः प्रसन्नपदानि च नव्यार्थयुक्तिश्च प्रसन्नपदनव्यार्थयुक्तयस्तासामुद्बोध उल्लासस्तं विदधातीत्येवंशीला। स्फुरन्ती प्रकाशरूपा सर्वतो मुखं यस्याः सा तथा। सर्वव्यापिनी सर्वाङ्गीणा चेत्यर्थः। एवंविधोत्तमकवेर्बुद्धिः प्रतिभा प्रोच्यते ॥ ४ ॥

सत्कवि की उस बुद्धि को प्रतिभा कहते हैं जो सर्वसंचरणशीला हो (जिससे कवि सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथ्यों की कल्पना भी सहज ही कर सके), जो कोमलकान्त-पदावली को इस प्रकार चुनकर रख दे जिससे नवीन एवं चमत्कारपूर्ण अर्थ की उद्भावना हो सके और जो स्फुरणशीला भी हो (जिससे सत्कवि की रचना में रस-भर आये) ॥ ४ ॥

अथ व्युत्पत्तिं व्याचिख्यासुराह—

शब्दधर्मार्थकामादिशास्त्रेष्वाम्नायपूर्विका।
प्रतिपत्तिरसामान्या व्युत्पत्तिरभिधीयते ॥ ५ ॥

शास्त्रशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात्—शब्दशास्त्रं व्याकरणम्, धर्मशास्त्रमागमः, अर्थशास्त्रं चाणक्यप्रणीतो राजनीतिग्रन्थः, कामशास्त्रं कौ(कु)क्को)कवात्स्यायनादिग्रन्थाः। आदिशब्दाच्छन्दोऽलङ्काराभिधानचिन्तामणिगजाश्वरत्नपरीक्षादिशास्त्राणि बौद्धादिदर्शनाभिधायकशास्त्राणि च गृह्यन्ते। अत्र 'शब्द—' इत्यादिद्वन्द्वे कृते शब्दधर्मार्थकामा आदौ येषां ते शब्दधर्मार्थकामादयस्तेषां शास्त्राणीति समासविधिः। एतेषु सर्वेषु—आम्नायः पूर्वो यस्याः साम्नायपूर्वा स्वार्थिककप्रत्यये आम्नायपूर्विका। गुरुपारम्पर्यमूलेत्यर्थः। असामान्या निःसामान्या प्रतिपत्तिः परिज्ञानविशेषो व्युत्पत्तिः प्रोच्यते। शब्दशास्त्रेऽप्रवीणो हि काव्ये क्रियापदविन्यासे निःसंशयो न भवति। धर्मशास्त्रादिपरिज्ञानरहितश्च तत्तत्प्रबन्धेषु धर्मार्थकाममोक्षादिकार्यजातमुदाहर्तुमशक्तः कथं कविर्भवतीति ॥ ५ ॥

गुरुपरम्परा से प्राप्त शब्दशास्त्र, श्रुति-स्मृति-पुराणादि धर्मशास्त्र और वात्स्यायन-प्रणीत कामसूत्रादि जो अनेकानेक शास्त्र हैं उनमें परम्परा से प्रवृत्त रहने वाली असाधारण प्रतिपत्ति ही व्युत्पत्ति कही गयी है ॥ ५ ॥

अथाभ्यासमाह—

अनारतं गुरूपान्ते यः काव्ये रचनादरः।
तमभ्यासं विदुस्तस्य क्रमः कोऽप्युपदिश्यते ॥ ६ ॥

निरन्तरं गुरुपार्श्वे यः काव्यविषये रचनाया आदरो भवति, कवयस्तमभ्यासं विदुर्निश्चितत्वेन जानन्ति। एतेन—यः कदाचिदेकवारमध्यभ्यसनमात्रमभ्यासः, सोऽभ्यास एव न भवति—इति ज्ञापितम्। तस्य पूर्वोक्तस्याभ्यासस्य कोऽपि क्रियन्मात्रः। न समग्र इति भावः। क्रमः प्रकार उपदिश्यते ॥ ६ ॥

योग्य गुरु के चरणों में निरन्तर बैठकर काव्य-रचना के लिये जो परिश्रम किया जाता है उसे ही 'अभ्यास' कहते हैं ॥ ६ ॥

तमेवाह—

बिभ्रत्या बन्धचारुत्वं पदावल्यार्थशून्यया।
वशीकुर्वीत काव्याय छन्दांसि निखिलान्यपि ॥ ७ ॥

काव्याय काव्यं निष्पादयितुं शिष्यः सर्वाण्यपि छन्दांसि शालिनीमालिनीप्रभृतीनि वशीकुर्वीत अवशान्यपि वशानि कुर्यात्। कया। पदावल्या। पदानामावली श्रेणिस्तया। किंविशिष्टया। अर्थशून्यया। अभिधेयरहितयापीत्यर्थः। तथा—बन्धस्य संदर्भस्य चारुत्वं मृदुपदललितयोगेन मनोज्ञत्वं बिभ्रत्या धारयन्त्या। यादृशी हि प्रथममभ्यासस्तादृशी पुरः कार्यनिष्पत्तिरिति विदितकाव्याभिधैरभ्यासेऽपि सुकलितपदशय्यामाधुर्यविशिष्ट एव विधेयः।

अत्र चोदाहरणमुच्यते—

'देवश्रेणी कीर्तिनिस्फूर्तिरेणी धर्माधर्मप्राप्तये धर्ममानः।
विश्वाधारं मन्यमानः समानं मातुर्लोहा रोहिणीवप्रदीपा॥'

इति छात्राभ्यासोऽर्थसंबन्धशून्ययापि शब्दश्रेण्या। एवं सर्वाण्यपि छन्दांसि सार्थकैर्निरर्थकैर्वा शब्दसंदर्भैरभ्यसनीयानीति॥ ७॥

काव्याभ्यासी को चाहिये कि वह प्रारम्भ में अभ्यास के लिये रचना-सौन्दर्य से युक्त निरर्थक पदावली के द्वारा भी सभी छन्दों पर अधिकार प्राप्त करने का प्रयास करे॥ ७॥

अथ बन्धचारुत्वमेव कथं भवतीत्याह—

पश्चाद्गुरुत्वं संयोगाद्विसर्गाणामलोपनम्।
विसन्धिवर्जनं चेति बन्धचारुत्वहेतवः॥ ८॥

संयोगवशात्पाश्चात्यवर्णस्य गुरुत्वं कार्यम्। एवं हि बन्धस्य दार्ढ्यं भवति। तथा—विसर्गलोपो न कार्यः। यतो विसर्गाणामवस्थानेन काव्य ओजोगुण उपजायते। तथा—विशब्दो विरूपत्वेऽभावे च वर्तते। यथा—'विस्वरोऽयं गायनः, विमदो मुनिरयम्' इति च। ततोऽत्रापि विरूपः संधिर्विसंधिः। यद्वा—न संधिर्विसंधिरिति। विरूपसंधेरसंधेश्च वर्जनं कार्यम्। एवंप्रकारा अन्येऽप्युद्दलद्वाविक्लिष्टपदवर्जनादयो बन्धचारुत्वस्य हेतवो भवन्तीति प्रकारार्थ इतिशब्दः सूचयति। अत्रोदाहरणं यथा—

'निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः कथां तथाद्रियन्ते न बुधाः सुधामपि।
नलः सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलः स राशिरासीन्महसां महोज्ज्वलः॥'

इदमुदाहरणमन्वये उक्तम्॥ ८॥

छन्दोबन्ध में सौष्ठव लाने के लिये यह आवश्यक है कि संयुक्त वर्ण परे रहने पर (उसके) पूर्व का लघ्वक्षर भी गुरुवत् माना जाय, विसर्गों का लोप न किया जाय और कर्णकटु वर्णों की सन्धि भी न की जाय॥ ८॥

व्यतिरेके तु ग्रन्थकारः एवोदाहरति—

शिते कृपाणे विधृते त्वया घोरे रणे कृते।
नधीश क्षितिपा भीत्या वन एव गता जवात्॥ ९॥

नृणामधीशो नधीशः संबोधने हे नधीश नरेन्द्र, त्वया शिते तीक्ष्णे खड्गे धारिते सति। अत एव रणे संग्रामे घोरे रौद्रे त्वया कृते सति क्षितिपाः प्रस्तावाच्छत्रवो नृपा भयेन वने कानने एव गताः। न क्षणमपि युद्धे स्थिता इति भावः। जवाद्वेगात्। अनेन सातिशयं भयं व्यज्यते। अत्र 'विधृते त्वया' इत्यादौ संयोगवशात्पूर्वस्य गुरुत्वं नास्ति, किं तु संदर्भ

विच्छित्तिकृतम् । 'अधीशत्व' इत्यत्र विरूपसंधिः, 'क्षितिपा क्षीत्या' इत्यत्र विसर्गाभावोऽस्ति । एवमेभिर्दोषैरस्मिन्बन्धे शैथिल्यादिप्रासनोऽस्ति बन्धचारुत्वम् । अतो विशिष्ट-काव्याधिभिरभ्यासोऽपि बन्धचारुत्वेऽध्येतव्यैव पदाबन्धा कार्य इति दिग्दत्तम् ॥ ९ ॥

हे राजन् ! घोर संग्राम में जब आप तीक्ष्ण कृपाण उठा लेते हैं तब भयभीत होकर (आपके शत्रु) क्षितिपाल शीघ्र ही वन की ओर भाग जाते हैं ।

टिप्पणी—**यहाँ पर 'अधीश' शब्द 'नु' और 'अधीश' शब्दों की सन्धि से बना है । यह सन्धि कर्ण-कटु है । 'विधुने त्वया' में 'ते' का गुरुत्व उसके बाद में आने वाले संयुक्त वर्ण 'त्व' के कारण नहीं, अपि तु अपने आप है और 'क्षितिपा क्षीत्या' में 'पा' के बाद विसर्ग न होने से ओजगुण का अभाव है । अतः इन तीन कारणों से उपर्युक्त श्लोक में सौन्दर्याघात नहीं हो सका है ॥ ९ ॥**

अर्थविशेषं विनापि पदबन्धाभ्यासमाह—

अनुल्लसन्त्यां नव्यार्थयुक्तावभिनवत्वतः ।
अर्थसङ्कलनात्त्वमभ्यस्येत्सङ्कथास्वपि ॥ १० ॥

शिष्यः कविरर्थसंकलनात्त्वमर्थस्याभिधेयस्य संकलनात्त्वं संघटनारहस्यं पदबन्धविधिलक्षणं संकथास्वपि परस्पराऽऽलापेष्वप्यभ्यस्येत् । कस्यां सत्यामित्याह—नव्यार्थयुक्तौ नवीनार्थयुक्तावनुल्लसन्त्यामप्रकाशमानायामित्यर्थः । नव्यार्थयुक्तेरनुल्लासः कुत इत्याह—अभिनवत्वतः कवेर्नवीनत्वादित्यर्थः ॥ १० ॥

यद्यपि प्रारम्भिक अभ्यास से काव्य में नूतन अर्थों की उद्भावना नहीं हो सकती किन्तु प्रतिदिन के वाग्व्यवहार में अर्थ-तत्त्वों के संग्रह का अभ्यास करना काव्य-रचना करने वालों के लिये आवश्यक है ॥ १० ॥

अत्रोदाहरति । यथा—

आगम्यतां सखे गाढमालिङ्ग्यात्र निषीद च ।
सन्दिष्टं यन्निजभ्रातृजायया तन्निवेदय ॥ ११ ॥

यथेति दृष्टान्तोपदर्शनार्थः । हे मित्र, त्वयागम्यताम् । तथा—प्रसत्त्वान्मामालिङ्ग्याश्लेषं कृत्वात्र स्थाने त्वं निषीदोपविश । 'आलिङ्गात्र' इति पाठे तु—सखे, त्वं मामालिङ्ग । ममालिङ्गनं कुर्वित्यर्थः । तथा—यन्निजभ्रातुर्मम लक्षणस्य जायया । अथवा निजया भ्रातृजायया । सन्दिष्टमस्ति । स्वभ्रातृजायया यः सन्देशो मम ज्ञापितोऽस्तीत्यर्थः । ननु कथं 'भ्रातृजायया' इति सिद्ध्यति । यतोऽत्र योनिसंबन्धसद्भावात् 'ऋतो विद्यायोनिसंबन्धे' इति सूत्रेण षष्ठ्य-लुक्प्राप्तः 'भ्रातुर्जायया' इत्यलुक्समासः प्राप्नोति 'मातुष्वसा' इत्यादिवत् । उच्यते—भ्रातेव भ्राता यस्य इत्यर्थः । ततश्च भ्रातृशब्दस्य भिन्नार्थत्वादत्र योनिसंबन्धाभावादलुक्समासस्याप्राप्तिः । तथा च वक्तारो भवन्ति—'ममानेन सह भ्रातृत्वमस्ति' । सखित्वमित्यर्थः ॥ ११ ॥

हे मित्र ! आइये, गाढालिङ्गन करके यहाँ बैठिये और फिर मेरी भाभी ने जो संदेश भेजा है उसे कहिये ।

टिप्पणी—इस श्लोक में 'आइये' और 'गाढालिङ्गन करके बैठिये' आदि शब्दों से स्वागत करने का अर्थ निकलता है और भाभी द्वारा दिये गये संदेश को पूछने से परस्पर कुशल-क्षेम की चिन्ता का ज्ञान होता है । यह परस्पर वार्तालाप में भी सुन्दर अर्थों की संकलना का उदाहरण है ॥ ११ ॥

ननु यदि नव्यार्थयुक्तिर्नोल्लसति, तदा परकाव्यार्थमादाय किमित्यभ्यासो न विधीयते इत्याशङ्कापनोदार्थमाह—

परार्थबन्धाद्यश्च स्यादभ्यासो वाच्यसङ्गतौ ।
स न श्रेयान्यतोऽनेन कविर्भवति तस्करः ॥ १२ ॥

चशब्दोऽत्र पुनरर्थे । यः पुनरभ्यासः परेषां कवीनां गृहीतस्यार्थस्य बन्धात्कृतः । अभ्यासः किंविषय इत्याह—वाच्यसंगतौ वाच्यस्यार्थस्य संगतौ संघटनायामित्यर्थः । अत्र विषयसप्तमी ज्ञेया । अर्थसंबन्धविषये योऽभ्यासो भवतीति भावः । सोऽभ्यासः श्रेयान्प्रशस्यो न भवति । यस्माद्धेतोरनेन परार्थबन्धेन । अथवा—परार्थबन्धात्मकमार्गेणार्थविषयाभ्यासेन कविः काव्यकर्ता तस्कर इव तस्करतुल्यो भवति । 'वाच्यसंगतौ' इति प्रतिपादनाच्छब्द-संगतिविषयोऽभ्यासः परतोऽपि गृहीतो न स्तैन्यं सूचयतीति । तथा परार्थबन्धप्रसक्तः कविः सुखमग्नो नाभिनवार्थोत्पत्तये क्लिश्यते । ततश्च परार्पितवर्ण्यविशेषवर्णनायामशक्तः सभापहास्यः स्यात् । कीर्त्यर्थं च काव्यविधानं विपरीतफलमेव भवेदिति ॥ १२ ॥

काव्य-रचना में कवि को अन्य कवि की पदावली अथवा अर्थ-योजना का अपनाना श्रेयस्कर नहीं होता, क्योंकि दूसरे की वस्तु ग्रहण करनेवाला कवि चोर कहलाता है जिससे वह निन्दा का भागी बन जाता है ॥ १२ ॥

समस्यायां पुनः परार्थग्रहणं न विरुद्धम् । विशेषतस्तथा वैदुष्यातिशयदर्शनादिति तदेव चाह—

परकाव्यग्रहोऽपि स्यात्समस्यायां गुणः कवेः ।
अर्थं तदर्थानुगतं नवं हि रचयत्यसौ ॥ १३ ॥

समस्यायां परकाव्यग्रहोऽपि विशिष्टबुद्धिप्रकाशलक्षणहेतुत्वाद्गुणः स्यात् कवेः काव्य-कर्तुरित्यर्थः । अत्र परकाव्यग्रहणेन परकाव्यस्यैको वा द्वौ वा त्रयो वा पादा ग्राह्याः, न तु संपूर्णं काव्यम् । परकाव्यग्रहणस्य गुणत्वे हेतुमाह—हि यस्माद्धेतोरसौ समस्यापूरकः कविस्तस्य परकाव्यस्य योऽर्थस्तस्यानुगतमनुयायिनमनुकूलमर्थमश्रुतपूर्वं नवं निजप्रतिभा-प्रागल्भ्येनाभिनवं रचयति । एवं च समस्यापूरणे परकाव्यार्थमपि निजनिर्मलबुद्धिबलोपपा-दिताभिनवार्थेन योजयन्कविश्चमत्कारकारको भवतीति । समस्योदाहरणं यथा—केनाप्येक-पादोऽर्पितः—'कज्जलं जयति कुङ्कुमोपमम्' इति । एतदर्थसंगत्यर्थं पादत्रयं नवं विधेयम् । यथा—

'जानकी भगवता भवं हतं पार्वती त्रिजगतीममात्मना ।
रक्तमक्षि विदधे रुचास्य तत्कज्जलं जयति कुङ्कुमोपमम् ॥'

स्वयमिदम् । राशार्पितं पादत्रयं कुमारसंभवस्य पृथक्पृथग्ग्रस्तं यथा—'चकार मेना विरहातुराङ्गी', 'प्रवालशय्याशयनं शरीरम्', 'हिमालयो नाम नगाधिराजः' इति । तुर्यपादेन पूरणे तु—

'चकार मेना विरहातुराङ्गी प्रवालशय्याशयनं शरीरम् ।
हिमालयो नाम नगाधिराजस्तव प्रतापज्वलनाज्जगाल ॥'

इत्यादि स्वयं ज्ञेयम् ॥ १३ ॥

किसी समस्या की पूर्ति करने के लिये एक कवि दूसरे कवि के पदों और भावों का ग्रहण कर सकता है । इस दशा में परार्थग्रहण दोष नहीं माना जाता क्योंकि समस्यापूर्ति में कवि जिस अर्थ की रचना करता है वह प्राचीन अर्थ से अनुगत होने पर भी नया लगा करता है ॥ १३ ॥

अथ काव्यनिमित्तमर्थोत्पत्तये सामग्रीमाह—

मनःप्रसत्तिः प्रतिभा प्रातःकालोऽभियोगिता ।
अनेकशास्त्रदर्शित्वमित्यर्थालोकहेतवः ॥ १४ ॥

सकलाधिविगमनान्मनसः प्रसन्नता । 'बुद्धिर्नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता' । प्रातःकालस्योपलक्षणत्वादपररात्रादिवेलापि ज्ञेया । तत्र हि मन्दमेधसोऽपि मेधा प्रसीदति । अभियोग उद्यमोऽस्यास्तीति इन् । तद्भावोऽभियोगिता । नानाशास्त्रदर्शनशीलत्वं च । अत्र समुच्चयार्थश्चशब्दोऽनुक्तोऽपि गम्यते । यथा—'अहन्यहनि नयमानो गामश्वं पुरुषं पशुम् । वैवस्वतो न तृप्यति सुराया इव दुर्मदी ॥' इति । पूर्वोक्ता अर्थालोकस्यार्थप्रकाशस्य हेतवो भवन्ति । किं च—

वर्ण्यवस्तुपरीवारं दृष्ट्वा वक्ष्यविशेषणैः । वाक्यैर्वाङ्कविमर्शाद्युत्तरङ्गौस्तद्भिः ॥ १४ ॥

मानसिक आह्लाद, नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि, प्रभातवेला, काव्य-रचना में अभिनिवेश और समस्त शास्त्रों का अनुशीलन ये पाँच अर्थ-स्फूर्ति के निमित्त हैं ॥

अथ समुत्पन्नस्यार्थस्य निवेशनविषये शिक्षामाह—

समासमिव पूर्वार्धे कुर्यादर्थप्रकाशनम् ।
तत्पुरुषबहुव्रीही न मिथःप्रत्ययावहौ ॥ १५ ॥

कविरर्थस्य प्रकाशनं पूर्वार्धे काव्यस्य समासमिव समासप्रायं विदध्यात् । न तु समासमेव । उत्तरार्धे तूपमार्थान्तरन्यासादिप्रकारैरर्थपूरणं कार्यमित्युक्तपूर्वम् । पुनः शिक्षान्तरमाह—कुर्यादिति क्रियानुवर्तते । तत्पुरुषश्च बहुव्रीहिश्च मिथः प्रत्ययमावहत इति मिथःप्रत्ययावहौ तौ परस्परप्रतीतिकारकौ न कुर्यादित्यर्थः ॥ यथा—'कृष्णशत्रुः' इत्युक्ते कृष्णः शत्रुर्यस्येति बहुव्रीहौ सत्यपि कृष्णश्चासौ शत्रुश्चेति तत्पुरुषभ्रान्तिः स्यात् । एवं 'वीरपुरुषः' इत्युक्ते—वीरश्चासौ पुरुषश्चेति तत्पुरुषे सत्यपि वीराः पुरुषा यत्र ग्राम इति बहुव्रीहिप्रतीतिः

स्यात् । एवं न कार्यम् । ननु 'इभश्यामौ मधुरः' इत्यत्र 'वीरश्यामौ पुरुषः' इत्यत्र च कर्मधारयसद्भावात्तत्पुरुषभ्रान्तिरयुक्ता प्रोक्तेति चेत्, नैवम् । कर्मधारयसंज्ञाधिकारे तत्पुरुषसंज्ञाया अपि शाब्दिकैः प्रतिपादनात् । ततः कर्मधारयः तत्पुरुषसहचर एवेति तत्पुरुषभ्रान्तिरुक्ता । 'अनुष्टुभि सनौ नाप्यात्' इति वचनाभिविद्धो नगणपातः 'तत्पुरुषबहुव्रीही' इत्यत्र न विरुद्धः स्यात्, अस्य शिक्षाशास्त्रत्वादिहेतुभिः ॥ १५ ॥

श्लोक के पूर्वार्द्ध में हो प्रतिपाद्य अर्थ को समाप्त कर देना चाहिये और तत्पुरुष तथा बहुव्रीहि समासों का इस प्रकार प्रयोग करना चाहिये जिससे दोनों में भेद स्पष्ट हो सके (अन्यथा अर्थ-वंपरीत्य की आशङ्का रहती है) ॥ १५ ॥

पुनः शिक्षान्तरमाह—

एकस्यैवाभिधेयस्य समासं व्यासमेव च ।
अभ्यस्येत्कर्तुमाधानं निःशेषालङ्क्रियासु च ॥ १६ ॥

कविः एकस्यैव एकस्याप्यभिधेयस्यार्थस्य समासं लघुनिच्छन्दसि संक्षेपं, व्यासमेव च विस्तरमपि कर्तुं विधातुमभ्यसेदित्यर्थः । लघुच्छन्दसार्थस्य संक्षेपं कर्तुमभ्यस्येत् । प्रौढच्छन्दसार्थस्य विस्तरमपि कर्तुमभ्यस्येत् । तथा । कविरभ्यस्येत् । किं कर्तुम् । आधानं कर्तुं अर्थस्य स्थापनां कर्तुम् । कासु । निःशेषालंक्रियासु सर्वालंकारेषु । अयं भावः—सर्वेष्वप्यलंकारेषूपमादिष्वेकस्याप्यर्थस्य स्थापनां कर्तुं चाभ्यस्येदित्यर्थः । प्रौढस्यार्थस्य लघुच्छन्दसा समासो यथा—

'ढक्काध्वनिप्रतिध्वानमुखरास्त्वद्रिपुत्रयात् । लीयमानान्निकुञ्जेषु वारयन्तीव पर्वताः ॥'

अस्यैवार्थस्य व्यासो यथा—

'यात्रारम्भभयानकानकशतध्वानप्रतिध्वानितैः स्वस्योच्छेदपराभवागममभी संभाव्य शङ्काकुलाः । आसादेशवशाद्वसन्तमधुना त्वद्वैरिराजव्रजं दूरादेव निराकरिष्णव इव स्वामिन्विभान्त्यद्रयः ॥'

अथवा—

'ज्योत्स्ना गङ्गा पयःश्च दुग्धधारा सुधाम्बुधिः । हाराश्चापि न रोचन्ते रोचते यदि ते यशः ॥'

अयं समासः । अस्यैव व्यासो यथा—

'ज्योत्स्ना स्निग्धा न, नो वा हरति हरशिरोरङ्गिणी हृत्तरङ्ग-
व्यानन्दमग्ना रम्यं न भवति, मधुरा नाप्यसौ दुग्धधारा ।
मुग्धा दुग्धाम्बुधेर्नोर्मिकलसति लहरी हारिणो वा न हाराः
अत्यग्राः स्वर्गभृङ्गाङ्गणरमणचणाः कीर्तयश्चेत्त्वदीयाः ॥'

एवं । तथा निःशेषालंकारेष्वर्थाधानविषयेऽभ्यासो यथा—'मुखमस्याः सुन्दरम्' इत्येतावन्मात्रोऽर्थो 'मुखकमलं सुन्दरम्' इति रूपके आधीयते, 'अस्या मुखे षट्पदावलिः कमलबुद्ध्या निपतति' इति भ्रान्तिमदलंकारे, 'अस्या मुखे घटिते विधात्रा चन्द्रः किमर्थं निष्पादितः' इत्याक्षेपे 'चन्द्रोऽयमस्या मुखमथवा पद्मम्' इति संशयालंकारे, 'इदं न मुखं किंतु कमलम्'

इत्यपह्नुतौ, 'अनलंकृति सुभगमस्याः प्रियो मुखम्' इति विभावनायाम्, 'अस्या मुखस्य वदनकान्तिभिर्निराकृते विलासमवनतमोभरे न स्मरति प्रदीपं परिजनः' इत्यतिशये । एवमन्येष्वलंकारेषु स प्रकारोऽभ्यसनीयः ॥ १६ ॥

(काव्याभ्यासी कवि को) एक ही प्रतिपाद्य वस्तु को संक्षेप और विस्तार से वर्णन करने का अभ्यास करना चाहिये । साथ ही उसको चाहिये कि एक ही वस्तु का विभिन्न अलङ्कारों में वर्णन करने का अभ्यास भी करे ॥ १६ ॥

अथ काव्यकर्तॄणां विशेषं ज्ञापयति—

स्यादनर्धान्तपादान्तेऽप्यशैथिल्ये लघुर्गुरुः ।
पादादौ न च वक्तव्याश्चादयः प्रायशो बुधैः ॥ १७ ॥

अर्धस्यान्तः अर्धान्तः पादस्यान्तः पादान्तः, अर्धान्तश्चासौ पादान्तश्च अर्धान्तपादान्तः, न अर्धान्तपादान्तोऽनर्धान्तपादान्तः । अथवा । अनर्धान्तश्चासौ पादान्तश्चेति समासविधिः । आस्तां तावत् । यत् अर्धान्तपादान्ते अर्धान्तरूपे पादान्ते लघुवर्णो गुरुर्भवति । किंतु अनर्धान्तपादान्तेऽपि लघुवर्णो गुरुर्भवति । कस्मिन्सति । अशैथिल्ये सति । शिथिलस्य भावः शैथिल्यम्, न शैथिल्यमशैथिल्यम्, तस्मिन्बन्धस्य दृढत्वे सतीत्यर्थः ।

'तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्तिहराय नाथ तुभ्यं नमः क्षितितलामलभूषणाय ।
तुभ्यं नमस्त्रिजगतः परमेश्वराय तुभ्यं नमो जिन भवोदधिशोषणाय ॥'

एवंविधेषु वसन्ततिलकेन्द्रवज्रादिषु छन्दःसु बन्धस्य दृढत्वे सति प्रथमतृतीयपादान्तेऽपि लघुर्गुरुः स्यात् । न पुनर्मालिनीप्रभृतिषु, बन्धशैथिल्यसंभवात् । तथा बुधैः पादस्यादौ चादयो न वाच्याः । यथा—'च नौमि नेमिं तु विधिं सुपार्श्वम्' इत्यादि । प्रायोग्रहणात्—रे-धिक्-हा-किं-न-भोः-प्रभृतयो न दुष्टाः । यथा—

'रे राक्षसाः कथयत क्व स रावणो यो रक्षं रवीन्दुकुलयोरपहृत्य नष्टः ।'

'यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः ।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च ॥'

'भोः सर्वतः स्फुरसि कैरवमाः पिबन्ति ज्योत्स्नां कषायमधुरामधुना चकोराः ।
जातोऽथ सैष चरमाचलचूलचुम्बी पङ्केरुहप्रकरजागरणप्रदीपः ॥'

अन्यदप्येवमभ्यूहनीयम् ॥ १७ ॥

यदि किसी स्थान पर लघुवर्ण को गुरुवर्ण करने की आवश्यकता पड़े तो वहाँ पर वैसा ही करना चाहिये (अर्थात् लघुवर्ण को भी गुरु समझना चाहिये) । अर्धपाद (द्वितीय और चतुर्थ पाद) के अन्त में तो यह नियम प्रसिद्ध ही है, अनर्धान्तपाद (प्रथम और तृतीय पाद) में भी इस नियम का आवश्यकतानुसार पालन करना चाहिये । इसके अतिरिक्त कुशल कवि को किसी भी पाद के आदि में 'च' आदि अव्ययों का प्रयोग वर्जित मानना चाहिये ॥ १७ ॥

अथ कविसमयं शिक्षयितुमाह—

भुवनानि निबध्नीयात्त्रीणि सप्त चतुर्दश ।
अप्यदृश्यां सितां कीर्तिमकीर्तिं च ततोऽन्यथा ॥ १८ ॥

कविर्भुवनानि काव्ये त्रीणि निबध्नीयात् । स्वर्गमर्त्यपातालभेदात् । अथवा सप्त यथा—(१) भूर्लोक (२) भुवर्लोक (३) स्वर्लोक (४) महर्लोक (५) जनलोक (६) तपोलोक (७) सत्यलोक इति । यद्वा चतुर्दश । यथा—सप्त पूर्वाण्येव । (८) तलं (९) वितलं (१०) सुतलं (११) नितलं (१२) तलातलं (१३) रसातलं (१४) पातालमिति । मतान्तरेण भुवनान्येकविंशतिरपि । तथा—यद्यपि शुक्लादयो गुणा मूर्तिमद्द्रव्याश्रयास्तथापि कीर्तिमदृश्यामप्यमूर्तामपि श्वेतां निबध्नीयात् । अदृश्यामप्यकीर्तिं ततः श्वेतकीर्तेरन्यथा अपरप्रकारामसितां कृष्णामित्यर्थः । निबध्नीयात् ॥ १८ ॥

कविता में भुवनों को तीन, सात अथवा चौदहसंख्यक बताया गया है । यश यद्यपि अमूर्त है तथापि उसको शुभ्रवर्ण और अपयश को श्यामवर्ण बताना चाहिये॥

वारणं शुभ्रमिन्द्रस्य चतुरः सप्त चाम्बुधीन् ।
चतस्रः कीर्तयेदाष्टौ दश वा ककुभः क्वचित् ॥ १९ ॥

यद्यपि हस्तिनां वर्णः कृष्णस्तथापि सुरेन्द्रस्य गजं शुभ्रं कीर्तयेत् । तथाग्नेस्तुरङ्गाणां लोहितवर्णः, सूर्यतुरङ्गाणां नीलवर्णः, इन्द्रतुरङ्गस्य कडारो वर्णः, शेषः स्वयमूहनीयः । अम्बुधीन् वर्णयेत् । कति चतुःसंख्यान् । पूर्वपश्चिमदक्षिणोत्तरभेदात् । किंवा (१) लवण (२) क्षीर (३) दधि (४) आज्य (५) सुरा (६) इक्षु (७) स्वादुवारिसमुद्ररूपान्सप्तलोकप्रसिद्धान् । तथा ककुभो दिशः कीर्तयेत् । कति । चतस्रः । अथवाष्टौ । यद्वा दश । न सर्वत्रापि दश किंतु क्वचित्स्थाने काव्योपयोगिनि पूर्वपश्चिमदक्षिणोत्तरभेदाच्चतस्रो दिशः । चतसृणां विदिशां प्रक्षेपादष्टौ । ऊर्ध्वदिगधोदिक्प्रक्षेपाद्दशापि दिशः । अत्रोदाहरणानि तेषु तेषु स्थानेषु स्वयं ज्ञेयानि ॥ १९ ॥

इन्द्र के हाथी ऐरावत को शुभ्रवर्ण का वर्णन करना चाहिये, समुद्रों की संख्या चार अथवा सात निर्धारित करनी चाहिये और दिशाओं की संख्या चार, आठ और यथावसर दश भी वर्णन की जा सकती है ॥ १९ ॥

पुनः शिक्षामाह—

यमकश्लेषचित्रेषु बवयोर्डलयोर्न भित् ।
नानुस्वारविसर्गौ च चित्रभङ्गाय सम्मतौ ॥ २० ॥

यमकालंकारे श्लेषालंकारे चित्रालंकारे बकारवकारयोर्न भित् न भेदो भवति । पुनः कयोः । डकारलकारयोः । तथा—अनुस्वारश्च विसर्गश्च चित्रस्य हारबन्धखड्गबन्धादिरूपस्य भङ्गाय विघाताय न संमतौ । न कथितावित्यर्थः ॥ २० ॥

यमक, श्लेष और चित्रादि शब्दालंकारों में 'ब' तथा 'व' और 'ड' तथा 'ल'

में भेद नहीं माना जाता। तात्पर्य यह है कि 'ब' तथा 'व' और 'ड' तथा 'ल' समान ही समझे जाते हैं। चित्रकाव्य में अनुस्वार और विसर्ग के कारण भी कोई व्याघात नहीं पड़ता, अर्थात् अनुस्वार और विसर्ग की उपस्थिति में भी चित्र-काव्य की हानि नहीं होती ॥ २० ॥

अथ क्रमेणोदाहरणानि—

[तत्र] यमके बवयोर्डलयोरभेदो यथा—

शङ्कमानैर्महीपाल कारागारविडम्बनम् ।
त्वद्वैरिभिः सपत्नीकैः श्रितं बहुविडम्बनम् ॥ २१ ॥

हे महीपाल क्षितिपाल, त्वद्वैरिभिर्वनं श्रितम्। किंविशिष्टम्। बहूनि विलानि बिलानि सर्पादिविवराणि यत्र तत्। सह पत्नीभिर्वर्तन्त इति सपत्नीकास्तैः। किं कुर्वाणैः। शङ्कन्ते इति शङ्कमानास्तैः। किं कर्म। तत्र काराख्ये अगारे विडम्बनं गुप्तिगृहकदर्थनमित्यर्थः। कारा चासावगारं चेति कर्मधारयः। अत्र श्लोके यमकालंकृते विडम्बनं बहु विलम्बनमिति बवयोर्डलयोश्चाभेदः ॥ २१ ॥

हे राजन्! आप के शङ्काकुल शत्रुओं ने अपनी पत्नियों को साथ लेकर ऐसे सघन और भयावह वनों की शरण ली है जिनमें सर्पादि भयानक हिंस्र जन्तुओं के असंख्य विवर हैं और जो कारागार के समान असह्य सङ्कटों से भरपूर हैं।

टिप्पणी—इस श्लोक के द्वितीय और चतुर्थ पादों में 'विडम्बनम्' शब्द की पुनरावृत्ति होने के कारण यहाँ पर 'यमक' नामक अलङ्कार है। 'ड' और 'ल' का अभेद इस तरह स्पष्ट है कि चतुर्थ पाद में प्रयुक्त 'बहुविडम्बनम्' शब्द वास्तव में 'बहुविलम्बनम्' है, किन्तु 'यमक' के लिये 'ल' को 'ड' मान लिया गया है ॥ २१ ॥

श्लेषे बवयोरभेदो यथा—

त्वया दयार्द्रेण विभो रिपूणां न केवलं संयमिता न बालाः ।
तत्कामिनीभिश्च वियोगिनीभिर्मुहुर्महीपातविधूसराङ्गाः ॥ २२ ॥

हे स्वामिन्, रिपूणां बालाः शिशवो न केवलं त्वया न संयमिताः न केवलं त्वया न बद्धाः। बन्दीकृता इत्यर्थः। किंतु तेषां रिपूणां कामिनीभिरपि वाला न संयमिताः। अत्र वालाः केशा न बद्धा इत्यर्थः। त्वया दयार्द्रेण सता न संयमिताः; तत्कामिनीभिश्च वियोगिनीभिः सतीभिर्न बद्धा इति। बालाः शिशवो वालाश्च केशाः। किंविशिष्टाः। मुहुर्महीपातविधूसराङ्गाः। मुहुर्वारंवारं मह्यां पातेन पतनेन विधूसरं विशेषेण धूलिमिश्रितं अङ्गं येषां ते तथा। अत्र बालवालशब्दयोर्बवयोरैक्यम् ॥ २२ ॥

हे राजन्! दया-द्रवित आपने केवल शत्रुओं की स्त्रियों को (अथवा बालकों को) नहीं बाँधा, यह नहीं, अपि तु विरह-व्यथित शत्रुस्त्रियों ने भी पुनः पुनः धूलि-धूसरित होने वाली अपनी केशराशि को नहीं बाँधा।

टिप्पणी—'बालाः' शब्द से स्त्री, बालक और बालों के अर्थ का बोध होने से यहाँ पर श्लेष है। यदि 'ब' और 'व' में अभेद माना जाय तो श्लेष सम्भव नहीं है। अतएव 'ब' और 'व' में यहाँ पर कोई भेद नहीं है॥ २२॥

श्लेषे डलयोरैक्यं यथा—

देव युष्मद्यशोराशिं स्तोतुमेनं जडात्मकम्।
उत्कण्ठयति मां भक्तिरिन्दुलेखेव सागरम्॥ २३॥

हे देव राजन्। अनेकार्थनाममालायां देवशब्दो राजार्थोऽप्यस्ति। युष्माकं यशसां राशिं स्तोतुं वर्णयितुं त्वदीया भक्तिर्मामुत्कण्ठयति उत्सुकं करोति। एनं इमं प्रत्यक्षं माम्। किंविशिष्टम्। जड आत्मा यस्य स जडात्मा जडात्मैव जडात्मकः। स्वार्थे कः प्रत्ययः। का इव। यथा इन्दोर्लेखा सागरमुत्कण्ठयति उल्लसितं करोति। सागरमपि किंभूतम्। जडात्मकं जलं नीरं आत्मा स्वरूपं यस्य स जलात्मकस्तं तथा। अत्र जडजलशब्दयोर्डलयोरैक्यम्॥ २३॥

हे देव! आपके प्रति मेरी जो भक्ति है वह मूर्खमति मुझको आप के स्तुतिगान के लिये उसी प्रकार से उत्साहित कर रही है जिस प्रकार से चन्द्रकिरण जल से परिपूर्ण सागर को उत्तम्भित कर देती है।

टिप्पणी—'जडात्मकम्' शब्द के दो भिन्न-भिन्न अर्थ हैं मूर्खमति और जलमय। अतः यहाँ पर श्लेषालंकार माना गया है। 'जडात्मकम्' शब्द 'जलमय' का अर्थ तभी प्रकट कर सकता है जब उसे 'जलात्मकम्' मान लिया जाय। इससे 'ड' और 'ल' वर्णों में पारस्परिक अभेद स्पष्ट है॥ २३॥

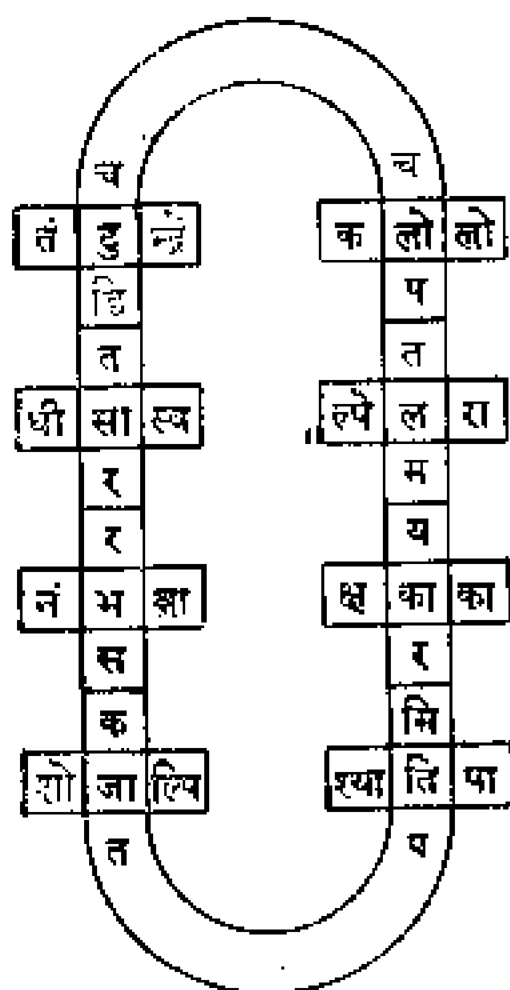
अथ चित्रे डलयोरैक्यं यथा—

चन्द्रेडितं चटुलितस्वरधीतसाररत्नासनं रभसकल्पितशोकजालम्।
पश्यामि पापतिमिरक्षयकारकायमल्पेतरामलतपःकचलोपलोभम्॥ २४॥

अहं देवं पश्यामीति संटङ्कः। चन्द्रेण सकलज्योतिश्चक्रवर्तिना ईडितः स्तुतस्तम्। पुनः किंभूतम्। चटुलितस्वरधीतसाररत्नासनम्। स्वरशब्दोऽव्ययमस्ति। स्वः स्वर्गेऽधीतो विख्यातः। मेरुरित्यर्थः। तस्य सारं रत्नमयं आसनं पाण्डुकम्बलादिशिलास्थितम्। चटुलितं चञ्चलीकृतं स्वरधीतस्य मेरुशैलस्य साररत्नासनं येन स तम्। अङ्गुष्ठेन मेरोः कम्पनात् आसनमपि कम्पते इति। अथवा। स्वः स्वर्गेण स्वर्गवासिदेवजनेन अधीतं पठितं व्यावर्णितं सारं बलं यस्य स स्वरधीतसार इन्द्र इत्यर्थः। चटुलितं कम्पितं स्वरधीतसारस्येन्द्रस्य रत्नासनं येन स तम्। परमेश्वरस्य कल्याणेषु इन्द्राणां सिंहासनानि कम्पन्त इति। रभसेन वेगेन कल्पितं छिन्नं शोकजालं असमाधिसमूहो येन स तम्। पुनः कथम्भूतम्। पापान्येव तिमिराणि पापतिमिराणि तेषां क्षयं करोतीति पापतिमिरक्षयकारः पापतिमिरक्षयकारः कायो देहो यस्य स तम्। अल्पेतरं च तत् अमलं चाल्पेतरामलं अल्पेतरामलं च तत्तपश्च तस्मै अल्पेतरामलतपसे कचलोपं कचानां केशानां लोपोऽपनयनं लोभयति इच्छयतीति अल्पे-

[illegible] ड्लयोरैक्यम् । इदं काव्यं हारमालिकेव वाचनीयम् ॥ २४ ॥

हारबन्धचित्रम्



मैं उन शिवजी का स्मरण करूँ जिनकी स्तुति चन्द्रमा द्वारा की जाया करती है, (जिनकी तपस्या से) उन इन्द्रदेव का आसन प्रकम्पित हो जाया करता है जो शीघ्र ही नाना प्रकार के दुःखों का विनाश कर देते हैं, जो पापान्धकार के नष्ट करने वाले हैं और जिनके केश अनवरत रूप से पावन तप में रहने के कारण विगलित हो गये हैं। (यहाँ 'चन्द्रेडितम्' के डकार और 'चडुलितम्' के लकार में अभेद माना गया है) ॥ २५ ॥

मिथो बवयोरैक्यं यथा—

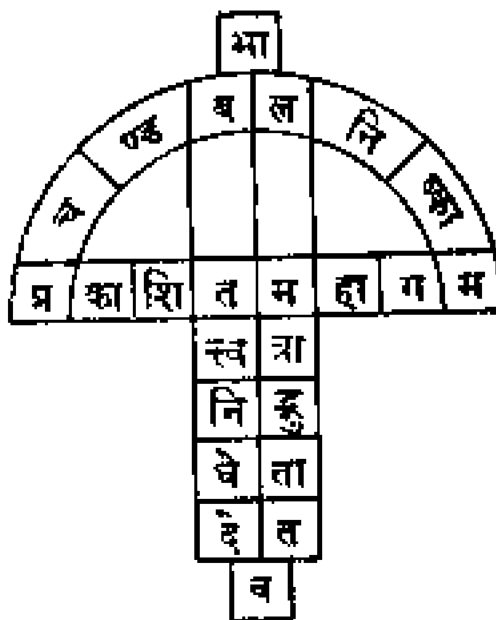
प्रणयवत्सल निष्काम प्रकाशितमहागम ।
भावतत्त्वविदे देव भावसम्भावुका वव ॥ २६ ॥

प्रचण्डमुत्कटं बलं वीर्यं यस्य स संबोध्यः। निर्गतः कामात्कन्दर्पान्निष्कामस्तस्यामन्त्रणम्। निष्कामेत्यत्र 'निर्दुर्बहिराविःप्रादुश्चतुराम्' इत्यनेन सूत्रेण निर्शब्दस्य रेफः षो भवति, परमत्र चित्रार्थं बाहुलकात्षो न कृतः। तेन विसर्ग एव निःकामेति। महांश्चासावागमश्च प्रकाशितो महागमो येन स संबोध्यः। भावोऽभिप्रायश्चित्तमित्यर्थः। तस्य तत्त्वानि भावतत्त्वानि अन्तरङ्गतत्त्वानि ज्ञानादीनि तेषां निधिरिव निधिस्तस्यामन्त्रणम्। हे देव, तव भाः प्रभा लनतिशयेन अत्र विश्वत्रयेऽपि अद्भुता आश्चर्यकारिणी। अस्ति क्रियानुक्तापि गम्यते 'यत्रान्यक्रियापदं न श्रूयते तत्रास्तिर्भवन्तीपरः प्रयुज्यते' इति गुरुवचनप्रामाण्यात्। अत्र भावबलयोर्बवयोरैक्यम्। तत्र छत्रस्थापनायां स्वयं ज्ञेयम्। तथा—'चन्द्रद्वितम्' इत्यत्रानुस्वारेण चित्रभङ्गो न। 'निष्काम—' इत्यत्र विसर्गाभ्यां न चित्रभङ्गः।

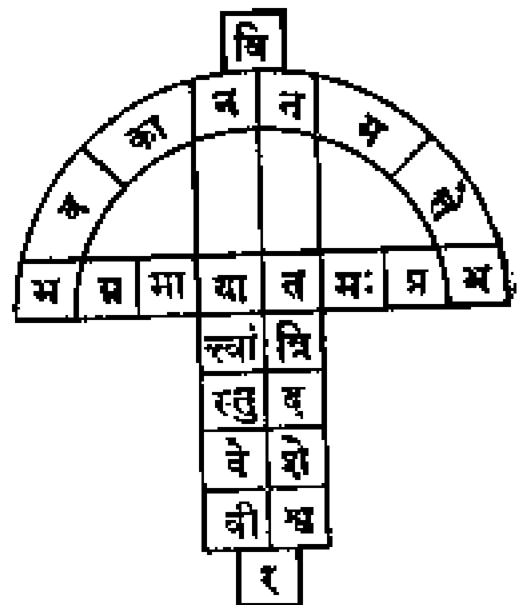
'[illegible]
विनयाख्यो स्तुवे वीर विनतत्रिदशेश्वर ॥'

इदमपि छत्रकाव्यं क्वचिद्दृश्यते ॥ २५ ॥

छत्रबन्धचित्रम् (१)



छत्रबन्धचित्रम् (२)



हे प्रचण्ड बलशालिन्! कामनाओं से रहित, शास्त्रादि को अपने ज्ञान से अवलोकित करने वाले और निखिल तत्त्ववेत्ता देव! आपकी कान्ति अत्यन्त अद्भुत-रूपा है।

टिप्पणी—संख्या (१) छत्रबन्धचित्र में 'बल' के बकार और 'भाव' के वकार में अभेद माना गया है। संख्या (२) छत्रबन्धचित्र संस्कृत टीकास्थ श्लोक का है।

अथ पूर्वोक्तमेवार्थमुपसंहरन्नाह—

अधीत्य शास्त्राण्यभियोगयोगादभ्यासवश्यार्थपदप्रपञ्चः ।
सं तं विदित्वा समयं कवीनां मनःप्रसत्तौ कवितां विदध्यात् ॥ २६ ॥

अभियोगस्योद्यमस्य योगात् शास्त्राणि धर्मशास्त्रकामशास्त्रार्थशास्त्रशब्दशास्त्रनीतिशास्त्र-वैद्यशास्त्रज्योतिः[illegible] [illegible] अर्थपदानि तेषां प्रपञ्चः अभ्यासेन वश्यो वशवर्ती अर्थपदप्रपञ्चः शब्दार्थप्रपञ्चो यस्य स तं तं प्रसिद्धं पूर्वकविप्रयुक्तं कवीनां समयं कविसिद्धान्तं ज्ञात्वा ततो मनसश्चित्तस्य प्रसत्तौ प्रसन्नत्वे सतीत्यर्थः । कवेः कर्म कवित्वं तां विदध्यात्कुर्यात् ॥ २६ ॥

इति वाग्भटालङ्कारव्याख्यायां सिंहदेवगणिकृतायां प्रथमः परिच्छेदः ।



सतत अभ्यास के कारण जिसे अर्थों और पदों के औचित्य का सम्यग्ज्ञान हो चुका है वह कवि व्याकरण, छन्द और अलंकारादि शास्त्रों का अध्ययन करे। तत्पश्चात् पूर्वकालीन काव्यशास्त्र के मर्मज्ञों द्वारा निर्दिष्ट सिद्धान्तों का पालन करके विलक्षण दर्शन-श्रवणादि के संयोग से उस समय काव्यरचना में प्रवृत्त हो जिस समय मन सब प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त हो ॥ २६ ॥

॥ प्रथम परिच्छेद समाप्त ॥



द्वितीयः परिच्छेदः

अथ काव्यशरीरं दर्शयन्नाह—

संस्कृतं प्राकृतं तस्यापभ्रंशो भूतभाषितम् ।
इति भाषाश्चतस्रोऽपि यान्ति काव्यस्य कायताम् ॥ १ ॥

तस्य पूर्वप्रस्तुतस्य काव्यस्य एताश्चतस्रोऽपि भाषाः कायतां शरीरत्वं प्राप्नुवन्ति। चतस्रोऽपि भाषाः काव्यस्य शरीरप्राया इत्यर्थः ॥ १ ॥

संस्कृत, प्राकृत, उस (संस्कृत) का अपभ्रंश और भूतभाषा—ये चार भाषाएँ काव्य-शरीर की रचना करती हैं अर्थात् इन चार भाषाओं में काव्य-रचना की जाती है ॥ १ ॥

अथ भाषाचतुष्टयं स्पष्टयति—

संस्कृतं स्वर्गिणां भाषा शब्दशास्त्रेषु निश्चिता ।
प्राकृतं तज्जतत्तुल्यदेश्यादिकमनेकधा ॥ २ ॥

देवानां भाषा संस्कृतं भवति । किंविशिष्टा । शब्दशास्त्रेषु व्याकरणेषु निश्चिता सम्यग्व्युत्पत्त्या निर्णीता । प्रकृतेः संस्कृतादागतं प्राकृतं अनेकधा अनेकप्रकारैर्भवति । तज्जं च तत्तुल्यं च देश्यं च तज्जतत्तुल्यदेश्यानि तानि आदौ यस्य तत्तथा । तस्मात्संस्कृताज्जायते स्म तज्जम् । यथा—

'सिरिसिद्धराअ सच्चं साहसरसिक त्ति कित्तणं तुज्झ ।
कहमण्णहा मणं मह पडन्तमअणत्थमक्कमसि ॥'

हे श्रीसिद्धराज जयसिंहदेव, तव साहसरसिक इति कीर्तनं सत्यमस्ति तत्तथा । अन्यथा कथं मनो मम आक्रामसि । मनः किंभूतम् । पतन्ति मदनास्त्राणि स्मरबाणा यत्र तत् । अत्र संस्कृतशब्दा एव प्राकृतीभूता इति तज्जम् । तेन संस्कृतेन तुल्यं समसंस्कृतमित्यर्थः । उदाहरणं यथा—'संसारदावानलदाहनीरम्—' इत्यादिस्तुतयः । अत्र प्राकृतेऽपि संस्कृतशब्दा नान्यथा भवन्तीति ।

देशे भवं देश्यम् । यथा—

'सत्तावीसञ्जोअणकरपसरो जाव अज्ज वि न होइ ।
पडिहत्थविम्बगड्डइनअणे ता नज्ज उज्जाणम् ॥'

अत्र सत्तावीसञ्जोअणशब्दो देश्यश्चन्द्रार्थे, तस्य किरणप्रसरो यावत् अद्यापि न भवति । पडिहत्थशब्दोऽपि देश्यः सम्पूर्णार्थः । गड्डइशब्दो देश्यश्चन्द्रार्थः । ततो हे सम्पूर्णमण्डलचन्द्रवदने तावत्त्वं उद्यानं व्रजेति ।

आदिशब्देन शौरसेनी भाषा मागधी च गृह्यते । शौरसेनीमागध्योः प्राकृतादल्प एव भेदः । शौरसेनी । यथा—इदानींशब्दे इलोपः—'अं दाणीं दुव्वसो अहयम्' । तच्छब्दस्य

ता—'ता पडि'। एवमुक्त... 'इह ...' [illegible] ... ठ्ठलण् ।
अम्महे शब्दो हर्षे—'अम्महे, एसो वलहो जणो' विदूषकादीनां हर्षे ही ही भो इति शब्दाः—'ही ही भो, एस नह जम्पइ' इत्यादि।

मागधीभाषायां अकारान्तस्य सौ एर्भवति—'एस वलहे'। तथा अहंशब्दस्य हगे भवति—'हगे आगदा'। तिष्ठतेस्तकारस्य चकारः—'चिट्ठ तुमम्'। तथा रेफस्य लः, णकारस्य च नः। यथा तरुणस्थाने 'तलुन' इति, रूक्षस्थाने 'लुक्खे' इत्यादि। एवमनेन प्रकारेणाने-कधा प्राकृतं ज्ञेयम्॥२॥

व्याकरणादि शब्दशास्त्रों में संस्कृत भाषा देव-भाषा बतायी गयी है। संस्कृत से उत्पन्न भाषा प्राकृत है जो कि विभिन्न देशों में प्रयुक्त होने के कारण विभिन्न नामों से प्रचलित है, यथा—मागधी, अर्धमागधी, पैशाची, महाराष्ट्री इत्यादि॥२॥

अपभ्रंशभाषामाह—

अपभ्रंशस्तु यच्छुद्धं तत्तद्देशेषु भाषितम्।

अपभ्रंशः पुनर्भवति। स इति स्वयं गम्यते। यत्तेषु तेषु कर्णाटपञ्चालादिषु शुद्धं अपर-भाषाभिरमिश्रितं भाषितं सोऽपभ्रंशो भवतीत्यर्थः। इह क्वचिदभूतोऽपि रेफो भवति। यथा—'चाउद्द तुह भडमाडि अवदीसइ सव्व पडन्तु। कड्ढि मा करभइ आविसइ अग्गं के रनुकन्तु॥'

अन्य (यवन-बर्बर आदि) देशों में जो संस्कृत से भिन्न किन्तु उन देशों के नियमानुसार भाषा बोली जाती है उसको अपभ्रंश कहते हैं।

पैशाचीमाह—

यद्भूतैरुच्यते किञ्चित्तद्भौतिकमिति स्मृतम्॥३॥

यत्किञ्चिद्भूतैः पिशाचैरुच्यते जल्प्यते तद्भौतिकं पैशाचिकमिति कथितम्। भूतानामिदं भौतिकम्। अत्र दकारस्य तः। यथा—'मारुतेवं तेवं नमद' मारुदेवं देवं नमत। यूय-मित्यर्थः। हृदयस्य यकारः पकारो भवति। यथा—'हितपं पंके व'। रस्य लः। यथा 'लुद्दो' रौद्र इत्यर्थ इत्यादि॥३॥

भूतादि जातिविशेष द्वारा जो भाषा प्रयुक्त होती है उसे भौतिक भाषा कहते हैं॥३॥

अथ वाङ्मयस्य द्विप्रकारत्वमाह—

छन्दोनिबद्धमच्छन्द इति तद्वाङ्मयं द्विधा।
पद्यमाद्यं तदन्यच्च गद्यं मिश्रं च तद्द्वयम्॥४॥

तत्प्रसिद्धं वाचां विकारो वाङ्मयं द्विधा द्विप्रकारं भवति। एकं मात्रागणबन्धाच्छन्दसा निबद्धम्। अपरं च अच्छन्दश्छन्दोरहितम्। आद्यं छन्दोनिबद्धं पद्यं कथ्यते। तदन्यद् ततोऽन्यच्छन्दोविहीनं गद्यं कथ्यते। तयोर्द्वयं तद्द्वयं छन्दोनिबद्धाच्छन्दसोर्द्वयं मिश्रं कथ्यते

गद्यपद्यरूपम् । तच्च चम्पूरिति मिश्रम् । 'गद्यपद्यमयी चम्पूः' इति वचनात् । मिश्रं च नाटकादिषु चम्पूग्रन्थेषु च भवति ॥ ४ ॥

वाङ्मय दो प्रकार का होता है—एक तो छन्दोबद्ध और दूसरा छन्दोहीन । इनमें से पहले (छन्दोबद्ध) को पद्य और दूसरे (छन्दोहीन) को गद्य कहते हैं । पद्य और गद्य से मिले हुये वाङ्मय को मिश्रित कहते हैं ॥ ४ ॥

काव्ये दोषपरिहारार्थमाह—

साधुशब्दैस्तत्कीर्त्यै स्वर्गसोपानपङ्क्तये ।
परिहार्यानतो दोषांस्तानेवादौ प्रचक्ष्महे ॥ ५ ॥

सत्काव्यमदुष्टमेव दोषरहितमेव कीर्तिनिमित्तं भवति । किंविशिष्टायै कीर्त्यै । स्वर्गस्य स्वर्गरूपस्य आवासस्य सोपानपङ्क्तिरिव स्वर्गसोपानपङ्क्तिस्तस्यै । यथा सोपानपङ्क्त्या उच्चैस्तरे प्रासादे आरुह्यते कीर्तिरूपसोपानश्रेण्या कवयः काव्यकरणेन स्वर्गलक्षणतुङ्ग-प्रासादमारोहन्ति । कविकीर्तेः स्वर्गेऽपि विस्तीर्यमाणत्वात् अतः कारणात्परिहार्यान्दोषा-न्प्रसिद्धानादौ पुरि प्रचक्ष्महे कथयामो वयम् ॥ ५ ॥

केवल दोषहीन काव्य ही (लोक में) यश को देने वाला और (परलोक में) स्वर्गपद को प्राप्त कराने वाला होता है । दुष्टकाव्य से तो केवल अपकीर्ति ही हाथ आती है । अत एव काव्य में त्याज्य दोषों का उल्लेख किया जा रहा है ॥ ५ ॥

तत्र काव्ये दोषास्त्रिविधा भवन्ति । पददोषा वाक्यदोषा वाक्यार्थदोषाश्च । तत्र प्रथमं पदविषयानष्टौ दोषानाह—

अनर्थकं श्रुतिकटु व्याहतार्थमलक्षणम् ।
स्वसङ्केतप्रक्लृप्तार्थमप्रसिद्धमसम्मतम् ॥ ६ ॥
ग्राम्यं यत्र प्रजायेत पदं तन्न प्रयुज्यते ।
क्वचिदिष्टा च विद्वद्भिरेषामप्यपदोषता ॥ ७ ॥ (युग्मम्)

न विद्यतेऽर्थः प्रयोजनं यस्य तदनर्थकम् । निष्प्रयोजनमित्यर्थः । श्रुतौ श्रवणे कटु श्रुतिकटु यत् श्रवणे कर्कशमित्यर्थः । व्याहतो विरुद्धोऽर्थो यस्य तद्व्याहतार्थं विरुद्धार्थमित्यर्थः । न विद्यते लक्षणं शब्दशास्त्रव्युत्पत्तिर्यस्य तत्तथा । व्याकरणहीनमित्यर्थः । स्वसंकेतेनैव न परसंकेतेन प्रकल्पितोऽर्थो यस्य तत्तथा । स्वाभिप्रायकल्पितमित्यर्थः । शास्त्रे क्वचित्प्रोक्तमपि यन्न प्रसिद्धं विख्यातं तत् अप्रसिद्धम् । असम्मतं नाभिमतमित्यर्थः ॥ ग्रामे प्रत्यन्तपुरे भवं ग्राम्यं ग्रामीणजनवचनतुल्यमित्यर्थः । एवंविधं यत्पदं प्रजायेत प्रादुर्भवेत् तत्पदं शब्दरूपं न प्रयुज्यते, काव्येषु तादृशस्य पदस्य दुष्टत्वात् । अत्रापवादमाह—क्वचिदिष्टा चेत्यादि । क्वचित्केषुचिदनुवादोऽपहासार्थेषु विद्वद्भिः पूर्वाचार्यैरेषामपि पूर्वोक्तदुष्टपदानामपि अपदोषता निर्दोषता इष्टा । प्रतिपादितेत्यर्थः । यथा—

'मुखं चन्द्रश्रियं धत्ते श्वेतश्मश्रुकराङ्कुरैः । अत्र हास्यरसोद्देशे ग्राम्यत्वं गुणतां गतम् ॥'
हास्यरसावतारादिदेशे ग्राम्यादिपदान्यपि गुणाय भवन्तीति भावः ॥ ६-७ ॥

अनर्थक, श्रुतिकटु, व्याहतार्थ, अलक्षण, स्वसंकेतप्रक्लृप्तार्थ, अप्रसिद्ध, असम्मत और ग्राम्य—ये आठ दोष जिस पद में आ जायँ उसका प्रयोग नहीं करना चाहिये। किन्तु कहीं पर ये दोष रहने पर भी दोष नहीं माने जाते ॥ ६-७ ॥

तत्र प्रथममनर्थकमाह—

प्रस्तुतेऽनुपयुक्तं यत्तदनर्थकमुच्यते ।
यथा विनायकं वन्दे लम्बोदरमहं हि तु ॥ ८ ॥

प्रस्तुते प्रारब्धेऽर्थे यदनुपयुक्तं नोपयुक्तं अनुपयोगि भवति तत्पदमनर्थकमुच्यते। उदाहरणमाह—यदिति । यथाशब्दो दृष्टान्तोपन्यासार्थः । अत्र लम्बोदरपदं हि तु इति च सर्वमनर्थकम् । यतः यत्स्वरूपमात्रवाचकं पादपूरणमात्रं च यत् तद्द्वयमपि अनर्थकं ज्ञेयम् । लम्बोदरपदं हि स्वरूपमात्रवाचकम् । हितुपदे तु पादपूरणमात्रार्थके । अतोऽनर्थकानि । तथा वन्दे इत्यत्र वर्तमानाया एकवचनस्य प्रयोगादहमित्यपि स्वयं लभ्यते । अतोऽहमिति पदमपि पुनरुक्तत्वादनर्थकं ज्ञेयम् । प्रयोजनविवक्षायां तु अहमिति पदं प्रयुक्तं नानर्थकमिति । अत्र शिष्य आह—'ननु लम्बोदरपदं गणेशार्थप्रतिपादकं ततः कथमनर्थकम् । न च वाच्यं विनायकशब्देनैवोक्तार्थत्वात् पुनरुक्तदोषः स्यादिति । पुनरुक्तदोषस्यात्रानिषिद्धत्वात्' । अत्र उच्यते—पुनरुक्तदोषाः अनर्थकदोषेऽन्तर्भवन्ति । ये तु पुनरुक्तदोषान्पृथङ्निषेधन्ति, तेऽपि पदार्थप्रतिपत्तौ जातायां पदान्तरप्रयोगमनुपयोगिनं मन्यन्त एव। न चेह प्रस्तुते वन्दे इत्यर्थे लम्बोदरपदं कञ्चिदुत्कर्षं पुष्णाति । तेन पुनरुक्तदोषोऽनर्थकदोषेऽन्तर्भवतीति सिद्धम् । यत्तु वक्ता हर्षभयादिवशात् पदं द्विस्त्रिर्वा प्रयुङ्क्ते, तत्र नायं दोषः । तेन विना हि कथं हर्षभयादिप्रतीतिः स्यात् । तदुक्तं श्रीआवश्यके—

'सज्झायज्झाणतवो स हेसु उवएसथुवइपयणेसु ।
संत गुणकित्तणेसु अ न हुन्ति पुनरुत्तदोसाओ ॥'

यथा—

'जयजय नम्बरशिक्षणी विष्णोरवतार भूप जयसिंह ।
अतिकेशहस्तहस्तव्याघृतदुर्वारवीर भुवनेऽस्मिन् ॥'

अत्र जयजयशब्दं विना हर्षो न गम्यते । हस्तशब्दयोस्तु पुनरुक्ताभासत्वमेव । भिन्नार्थत्वात् । भये यथा अहिरहिः । एवं वीप्सानुवादादिष्वपि द्रष्टव्यम् ॥ ८ ॥

जो पद प्रस्तुत विषय के अनुकूल न हो उसे अनर्थक कहते हैं । यथा—मैं लम्बोदर गणेशजी की स्तुति करता हूँ ।

टिप्पणी—यहाँ पर विनायक (गणेशजी) के प्रसङ्ग में 'लम्बोदर' विशेषण अनुपयुक्त होने के कारण काव्य में 'असमर्थक' नामक दोष उत्पन्न करता है ॥ ८ ॥

अथ श्रुतिकटु आह—

निष्ठुराक्षरमत्यन्तं बुधैः श्रुतिकटु स्मृतम्।
एकाग्रमनसा मन्ये स्रष्ट्रेयं निर्मिता यथा ॥ ९ ॥

विद्वद्भिर्यस्मिन् कठोराक्षराणि यत्र तत्पदं 'श्रुतिकटु' इति पठितम्। उदाहरणमाह—एकेति। यथाशब्दो निर्देशनोपदर्शनार्थः। इयं युवती स्रष्ट्रा विधात्रा घटिता। किंभूतेन। एकाग्रं सावधानं मनो यस्य स एकाग्रमनास्तेन। मन्ये इति वितर्के। एवंविधाद्भुतरूपस्यान्यथानुपपत्तेरिति। अत्र स्रष्ट्रा इति कठोरम् ॥ ९ ॥

काव्य में अत्यन्त कर्णकटु अक्षरों के प्रयोग से उत्पन्न होने वाले दोष को आचार्यों ने 'श्रुतिकटु' संज्ञा प्रदान की है। यथा—

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि एकाग्रचित्त स्रष्टा के द्वारा इस (सुन्दरी) की रचना की गयी होगी [क्योंकि ऐसा न होने पर स्रष्टा (विधाता) इस अपूर्व सुन्दरी स्त्री की सृष्टि कर ही कैसे सकते थे ?]

टिप्पणी—यहाँ पर 'स्रष्ट्रेयं' शब्द में टकार और रकार का प्रयोग दूषित है क्योंकि ये दोनों कर्कश वर्ण हैं ॥ ९ ॥

व्याहतार्थमाह—

व्याहतार्थं यदिष्टार्थबाधकार्थान्तराश्रयम्।
रतस्त्वमेव भूपाल भूतलोपकृतौ यथा ॥ १० ॥

तत्पदं व्याहतार्थं भवति, यदभीष्टार्थस्य बाधकं अर्थान्तरमन्यार्थमाश्रयति। एकस्मादर्थादन्योऽर्थः अर्थान्तरं इष्टार्थबाधकं च तदर्थान्तरं च इष्टार्थबाधकार्थान्तरं आश्रयो यस्येति समासविधिः। उदाहरणं यथा—भूतलस्योपकृतिरुपकारस्तस्यां त्वं रतः आसक्त इतीष्टोऽर्थः। तस्य बाधकं भूतानां प्राणिनां लोपकरणे रतस्त्वमित्येवंविधमर्थान्तरमाश्रयति भूतलोपकृतिशब्दः ॥ १० ॥

ऐसे पद का प्रयोग जिससे इष्टार्थ के अतिरिक्त, अन्य अर्थ का प्रतिपादन होता हो और वह (अन्य अर्थ) इष्टार्थ में बाधा डालता हो 'व्याहतार्थ' नामक दोष कहलाता है। यथा—हे राजन् ! आप सदैव संसार के उपकार में लीन रहते हैं।

टिप्पणी—इस पद में 'भूतलोपकृतौ' शब्द का प्रयोग दूषित है। एक प्रकार से सन्धि करने पर इसका रूप बनता है—'भूतल + उपकृतौ' जिसका अर्थ है 'संसार के उपकार में' और वास्तव में यही इष्टार्थ है। इस शब्द का एक और

भी रूप बनेगा 'भूत+लोपकृतौ' जिसका अभिप्राय है 'प्राणियों के विनाश में'। पूर्वोक्त इष्टार्थ के साथ-साथ इस अनिष्टार्थ का प्रतिपादन होने के कारण यहाँ पर 'व्याहतार्थ' दोष उत्पन्न हो गया है ॥ १० ॥

अथालक्षणं लक्षयति—

शब्दशास्त्रविरुद्धं यत्तदलक्षणमुच्यते ।
मानिनीमानदलनो यथेन्दुर्विजयत्यसौ ॥ ११ ॥

यत्पदं शब्दानां शास्त्रेण व्याकरणेन विरुद्धं तदलक्षणं कथ्यते । उदाहरति— यथे-त्युदाहरणार्थम् । मानवतीनां तरुणीनां मानस्याहङ्कारस्य दलयतीति दलनो विदारकः इन्दुश्चन्द्रो विजयति विशेषेण जयति । चन्द्रोदये मन्मथोन्मादेन पतिषु साहङ्कारा अपि युवतयो मानं मुञ्चन्तीति । अत्र 'परावेर्जेः' इति सूत्रेणात्मनेपदप्राप्तौ विजयतीति परस्मैपदं दुष्टम् । विजयते इत्येव सत्यम् ॥ ११ ॥

जो पद व्याकरणविरुद्ध हो उसे 'अलक्षण' दोष कहते हैं। यथा—मानिनी स्त्रियों के मान-मर्दन करनेवाले चन्द्रमा की विजय हो ।

टिप्पणी— यहाँ पर 'विजयति' शब्द दूषित है। व्याकरण-नियमानुसार 'जि' धातु—जिसका अर्थ है जीतना—'परस्मैपदी' है, किन्तु 'वि' उपसर्ग पूर्व में रहने पर वह धातु 'आत्मनेपदी' हो जाती है। अतएव 'जयति' शब्द तो व्याकरण-सम्मत है और इसीलिये अदुष्ट भी। जैसे कि—'स जयति सिन्धुरवदनो' आदि पद में, किन्तु 'वि' पूर्वक 'जि' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष का रूप होना चाहिये 'विजयते' न कि 'विजयति' जैसा कि यहाँ पर प्रयुक्त है। इसीलिये इस श्लोक में 'अलक्षण' नामक दोष माना गया है ॥ ११ ॥

स्वसङ्केतप्रक्लृप्तार्थमाह—

स्वसङ्केतप्रक्लृप्तार्थं नेयार्थान्तरवाचकम् ।
यथा विभाति शैलोऽयं पुष्पितैर्वानरध्वजैः ॥ १२ ॥

नीयत इति नेयं प्राप्यं न तु गम्यम् । नेयं च तदर्थान्तरं च नेयार्थान्तरं तस्य वाचकं पदं स्वसंकेतप्रक्लृप्तार्थं भवतीत्यर्थः । उदाहरति—यथेति । अत्र वानरध्वजैरिति ककुभाख्यै-रर्जुनवृक्षैरित्यर्थः । वानरध्वजशब्देनार्जुननामा पाण्डवः कथ्यते तस्य कपिध्वजत्वात् । ननु अर्जुननाम्ना सादृश्येन ककुभवृक्षास्तेन वानरध्वजपदं नेयार्थम् । वानरध्वजशब्देन हि ककुभवृक्षा न कथ्यन्ते, ततः स्वसंकेतप्रक्लृप्तार्थं वानरध्वजपदम् । यत्तु समस्तकवि-संकेतनं तत्र न दोषः । यथा रथाङ्गशब्दश्चक्रनाम्नि पक्षिणि, द्विरेफशब्दो भ्रमरे, द्विक-शब्दः काके ॥ १२ ॥

'स्वसंकेतप्रक्लृप्तार्थ' नामक दोष वहाँ पर होता है जहाँ किसी प्रसिद्ध एवं

सर्वविदित अर्थ के विपरीत कवि स्वकल्पित अर्थ में किसी पदविशेष को प्रयुक्त करता है। यथा—यह पर्वत पुष्पराशि-मण्डित कपिध्वज (अर्जुन) के वृक्षों से सुशोभित हो रहा है।

टिप्पणी—'कपिध्वज' शब्द साधारणतया पाण्डुपुत्र अर्जुन के लिये ही रूढ है, किन्तु यहाँ कवि ने उसे स्वकल्पित अर्जुन नामक वृक्ष के अर्थ में प्रयुक्त किया है। अतएव यहाँ 'स्वसंकेतप्रक्लृप्तार्थ' नामक दोष है ॥ १२ ॥

अथाप्रसिद्धमाह—

यस्य नास्ति प्रसिद्धिस्तदप्रसिद्धं विदुर्यथा।
राजेन्द्र भवतः कीर्तिश्चतुरो हन्ति वारिधीन् ॥ १३ ॥

यस्य पदस्य प्रसिद्धिः कविरूढिर्नास्ति तदप्रसिद्धं विदुः तथात्वेन न जानन्ति। धातूनामनेकार्थत्वात्कथयन्ति वा। उदाहरणं यथा—हे भूपेन्द्र, तव कीर्तिश्चतुःसंख्याम् पूर्वपश्चिमदक्षिणोत्तरान् समुद्रान् हन्ति गच्छति आप्नोतीति भावः। अत्र 'हन् हिंसागत्योः' इति धातुपाठे गत्यर्थः पठितोऽपि हन्तिधातुर्न कविपरम्परायां प्रसिद्धः। प्रयोजनविशेषे तु गत्यर्थप्रयोगोऽप्यदुष्ट एव। यथा विशेषे श्लेषादिषु ॥ १३ ॥

अप्रसिद्ध एवं अप्रचलित अर्थ में किसी पद को प्रयुक्त करने से 'अप्रसिद्ध' नामक दोष उत्पन्न होता है। यथा—हे राजेन्द्र ! आप की सुकीर्ति चारों समुद्रों तक जा चुकी है।

टिप्पणी—'हन्' धातु प्रायः मारने के अर्थ में ही प्रचलित है, जाने के अर्थ में नहीं, तथापि यहाँ पर 'हन्ति' जाने के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। अतएव इस श्लोक में 'अप्रसिद्ध' नामक दोष आ गया है ॥ १३ ॥

असम्मतमाह—

शक्तमप्यर्थमाख्यातुं यन्न सर्वत्र सम्मतम्।
असम्मतं तमोम्भोजं क्षालयन्त्यंशवो रवेः ॥ १४ ॥

यत्पदमर्थमाख्यातुमभिधेयं वक्तुं शक्तमपि समर्थमपि सर्वत्र महाकविशास्त्रेषु न संमतं कवीनां नाभिमतं तदसंमतं कथ्यते। यत्सदोनित्यसंबन्धत्वात् तच्छब्दस्य स्वयं गम्यमानत्वात्। अत्रोदाहरणमाह—रवेः सूर्यस्यांशवः किरणास्तम एवाम्भोजः कर्दमस्तं तमोम्भोजं ध्वान्तरूपमम्भोजं कर्दमं क्षालयन्तीत्यर्थः। अत्राम्भोजशब्दोऽम्भसो जातोऽम्भोज इति व्युत्पत्त्या कर्दमं वाचयितुं समर्थोऽपि कमलादन्यत्र कवीनां न संमतः, कमले एव तस्य रूढत्वात्। तथा—अपूर्वः स्मृधातुर्विस्मरणार्थे एव प्रसिद्धो न तु महदुस्मरणार्थे। तथा चोक्तं नैषधकाव्ये—

'नाक्षराणि पठता किमपाठि प्रस्मृतः किमथवा पठितोऽपि।
इत्थमर्थिचयसंशयदोलाखेलनं खलु चकार नकारः ॥'

तथा—प्रपूर्वः स्थाधातुर्गमनार्थे प्रसिद्धो न तु प्रकृष्टस्थानार्थे। यथा—'भट्टो नगरं प्रति प्रस्थितः'। गत इत्यर्थः। तथा आङ्पूर्वो वहतिः करणे, न तु समन्ताद्वहने। यथा—'सद्विद्या विस्मयावहा'। विस्मयकरीत्यर्थः। एवं कविसंमतमेव पदं प्रयोज्यं काव्ये नान्यत्॥ १४॥

जो पद किसी अर्थ को प्रकट करने में समर्थ होते हुए भी सर्वमान्य नहीं होता उस (पद) का प्रयोग 'असम्मत' नामक दोष को उत्पन्न करता है। यथा—सूर्य की रश्मियाँ अम्भोज (अन्धकार) के कीचड़ (अथवा अन्धकार रूप कीचड़) को भी डालती हैं।

टिप्पणी—इस पद्य में 'अंभोज' पद यद्यपि कीचड़ का बोध कराने में समर्थ है, तथापि 'अम्भोज' पद का यह अर्थ सर्वसम्मत नहीं है। इसीलिये इस पद्य में 'असम्मत' नामक दोष है॥ १४॥

अथ ग्राम्यमाह—

यद्यत्रानुचितं तद्धि तत्र ग्राम्यं स्मृतं यथा।
छादयित्वा सुरान्पुष्पैः पुरो धान्यं क्षिपाम्यहम्॥ १५॥

यदिति। यत्पदं यत्र देशेऽनुचितं वक्तुमयोग्यं भवति हि निश्चितं तत्पदं तत्र देशे ग्राम्यं स्मृतं कविभिस्तदश्लीलं कथितमित्यर्थः। यथेत्युदाहरणार्थम्। अहं पुष्पैः सुरानभ्यर्च्य बलिं ढौकयामीत्येवं वक्तुं योग्यं भवति। अत्र तु अहं देवान्पुष्पैश्छादयित्वाग्रे धान्यं क्षिपामीति ग्रामीणलोकतुल्यवचनं प्रोक्तं तत्तादृशं पदं ग्राम्यं ज्ञेयमिति। तथा—व्रीडाजुगुप्सा-अमङ्गलप्रतीतिकरा ये शब्दास्तेऽपि सभानुचितत्वाद्ग्राम्या एव। व्रीडाहेतुर्यथा—'साधनं सुमहद्यस्य—' इत्यत्र साधनशब्दः पुंश्चिह्नेऽपि शङ्क्येत। जुगुप्सावाचको यथा 'वायुः प्रसरति'। वायुशब्दोऽपानपवनशङ्काकारी। अमङ्गलप्रतीतिकरो यथा—'संस्थितोऽयम्'। संस्थितशब्दोऽत्र मृतार्थशङ्काकारी। तथा—

'अतिपेलवमतिपरिमितवर्णं लघुतरमुदाहरति शठः।
परमार्थतः सहृदयं वहति पुनः कालकूटघटितमिव॥'

अत्र पेलवशब्दोऽसभ्यत्वाद्ग्राम्य एव। याभ्यां साभिरित्यादयस्तु कस्मिंश्चिद्देशेऽसभ्यत्वाद्ग्राम्याः न तु सर्वत्र। भगवतीभगिनीशिवलिङ्गप्रभृतयस्तु लोकेऽविरुद्धत्वाददुष्टाः। उक्तञ्च—'लोकवत्प्रतिपत्तव्यो लौकिकोऽर्थः परीक्षकैः। प्रतिलोकव्यवहारसदृशौ बालपण्डितौ॥' इति।

क्वचिदेषामप्यनर्थकादीनामपदोषता।

'वलयस्थास्मि दादासी तत्वाहं सत्सर्वदा। ततमानय मन्दोक्तिमेनामध्येत्ययं शुकः॥'

वकारादयोऽनर्थका अलक्षणाश्च तथाप्यत्रानुकरणार्थत्वात्तेषां न दोषः।

युगपत्स्तुतिनिन्दयोर्वाच्ययोरश्लीलार्थमपि न दुष्टम्। यथा—

'त्वमेव भूपाल भूतलोपकारी सदा। अत एव यशः स्वैरं तव पूर्वाश्च कीर्तयः॥'

स्वैरं स्वेच्छाचारी मर्दः च। अपूर्वा अद्भुता प्रकारपूर्वाश्च पर्याप्ता इत्यर्थः।

प्रहेलिकायां स्वसंकेतप्रक्लृप्तार्थमपि न दुष्टम्, यथा—

'अवली इउण सामलव अर्ण रइ धाम धारओ जाओ।
रवितणअ मण्डलीकअ इस्थिपसूणं कुरंगच्छि॥'

अत्र रविनयः कर्णस्तच्छब्दवाच्यः॥ १५॥

जहाँ कोई पद प्रसंगविशेष में अनुचित होने पर भी प्रयुक्त हो वहाँ 'ग्राम्य' दोष समझना चाहिये। यथा—देवताओं को पुष्पों से आच्छादित करके मैं उनके आगे ग्राम्य-हविष्-इत्यादि फेंकता हूँ।

टिप्पणी—**देवताओं के ऊपर पुष्प चढ़ाये जाते हैं न कि उन्हें फूलों से ढँक दिया जाता है, जैसा कि यहाँ पर प्रयोग किया गया है अतएव इस श्लोक में 'ग्राम्य' दोष समझना चाहिये॥ १५॥**

संप्रत्यष्टौ वाक्यदोषान्क्रमेणाह—

पदात्मकत्वाद्वाक्यस्य तद्दोषाः सन्ति तत्र हि।
अपदस्थास्तु ये वाक्ये दोषांस्तान्ब्रूमहेऽधुना॥ १६॥

उक्ताः पददोषाः। यस्मिन्वाक्ये सदोषं पदं प्रयुज्यते तद्वाक्यमपि सदोषपदयोगात्सदोषमेवेत्याह—तद्दोषाः पदगतदोषाः अनर्थकादिकाः हि निश्चितं तत्र वाक्ये सन्ति। वाक्यस्य पदात्मकत्वात्पदरूपत्वात्। सदोषपदनिष्पन्नं वाक्यमपि सदोषम्। निर्दोषैः पदैर्वाक्यमपि निर्दोषम्। यथा—

'राजेन्द्र भवतः कीर्तिश्चतुरो हन्ति वारिधीन्।'

इत्यत्र हन्तीति सदोषक्रियया समग्रदोषं वाक्यं सदोषं जातम्। एतावता ये पददोषा भवन्ति, ये अपदस्था वाक्यदोषाः, ये पदे न सन्ति किंतु वाक्ये सन्ति तानधुना वच्मः॥ १६॥

पदों से ही वाक्य की रचना होती है, अतः पद में रहने वाले दोष वाक्य के भी दोष हो सकते हैं। तथापि जो दोष पद में न होकर वाक्य में ही होते हैं उन वाक्यदोषों का वर्णन आगे किया जाता है॥ १६॥

खण्डितं व्यस्तसम्बन्धमसम्मितमपक्रमम्।
छन्दोरीतियतिभ्रष्टं दुष्टं वाक्यमसत्क्रियम्॥ १७॥

एवंविधं वाक्यं दुष्टं सदोषम्। छन्दोभ्रष्टं रीतिभ्रष्टं यतिभ्रष्टम्॥ १७॥

खण्डित, व्यस्तसम्बन्ध, असम्मित, अपक्रम, छन्दोभ्रष्ट, रीतिभ्रष्ट, यतिभ्रष्ट, दुष्टवाक्यत्व और असत्क्रिया—ये नौ वाक्य-दोष हैं॥ १७॥

अथानुक्रमेण सर्वानाह—

वाक्यान्तरप्रवेशेन विच्छिन्नं खण्डितं मतम्।
यथा पातु सदा स्वामी यमिन्द्रः स्तौति वो जिनः॥ १८॥

यद्वाक्यं वचनान्तरन्यासेन विच्छिन्नं भुदितं तत् खण्डितम् । जिनः स्वामी वो युष्मान्पातु इति वाक्यं यमिन्द्रः स्तौतीति वाक्यान्तरेण विच्छिन्नत्वात्खण्डितम् ॥ १८ ॥

एक वाक्य के अन्तर्गत अन्य वाक्यांश के आ जाने से प्रथम वाक्य में जहाँ विच्छेद उत्पन्न हो जाता है, वहाँ 'खण्डित' नामक दोष माना जाता है। यथा—वे जिनस्वामी जिनकी स्तुति सदैव इन्द्र भी करते रहते हैं, आप लोगों की रक्षा करें ।

टिप्पणी—यहाँ पर 'वे जिनस्वामी आप लोगों की रक्षा करें'—इस वाक्य के बीच में 'जिनकी स्तुति सदैव इन्द्र किया करते हैं'—इस वाक्य के आ जाने से पूर्वोक्त वाक्य में व्यवधान उपस्थित हो जाता है। अतः यह 'खण्डित' नामक दोष का उदाहरण है ॥ १८ ॥

सम्बन्धिपदयोर्दूरत्वे व्यस्तसम्बन्धमुच्यते ।
यथाद्यः सम्पदं श्राता देयात्तत्त्वानि वोऽर्हताम् ॥ १९ ॥

एकस्मिन्नेव वाक्ये सम्बन्धिपदादद्दूरत्वे सति यस्य यस्य पदस्य सम्बन्धि तत्तत्रैव योज्यम् । तद्दूरत्वे सति व्यस्तसम्बन्धमुच्यते । यथाद्यार्हतामाद्यस्तत्त्वानि श्राता वः सम्पदं देयादिति सम्बन्धिपदानां यद्दूरे स्थापनं तद् व्यस्तसम्बन्धं ज्ञेयम् ॥ १९ ॥

किन्हीं दो पदों में परस्पर-सम्बन्धी पदों के दूर-दूर रहने पर 'व्यस्तसम्बन्ध' नामक दोष उत्पन्न होता है । यथा—अर्हतों में अग्रगण्य तत्त्ववेत्ता (जिन) देव आप लोगों को सम्पत्ति-धन-धान्य प्रदान करें ।

टिप्पणी—इस वाक्य में 'आद्यः' और 'अर्हताम्' शब्द परस्पर-सम्बन्धी होते हुए भी एक दूसरे से दूर हैं । अतएव यहाँ पर 'व्यस्तसम्बन्ध' दोष है ॥ १९ ॥

शब्दार्थौ यत्र न तुलाविधृताविव सम्मितौ ।
तदसम्मितमित्याहुर्वाक्यं वाक्यविदो यथा ॥ २० ॥

यत्र बन्धे शब्दार्थौ तुलाविधृताविव न सम्मितौ । यथा तुलाविधृतौ द्रव्यौ द्वयोः पार्श्वयोर्नमतः, तदा सम्मितौ । यत्र शब्दा बहवोऽर्थोऽल्पः, वाक्यविदस्तद्वाक्यमसम्मितमाहुः ॥२०॥

जहाँ पर शब्द और अर्थ संतुलित न हों (अर्थात् शब्द-जाल तो दीर्घ हो किन्तु अर्थ छोटा हो) वहाँ पर विद्वान् लोग 'असम्मित' नामक दोष बतलाते हैं ॥ २० ॥

उदाहरणमाह—

मानसौकःपतद्यानदेवासनविलोचनः ।
तमोरिपुविपक्षारिमियां त्रिशतु वो जिनः ॥ २१ ॥

मानसे ओको गृहं यस्य पततः पक्षिणः स मानसौकःपतन् हंसः, स एव यानं यस्य

स चासौ देवश्च मानसौकःपत्त्रयानदेवो ब्रह्मा तस्यासनं कमलं तद्वत्तस्य तुल्ये विशिष्टे लोचने यस्य स जिनो वो युष्माकं तमोरिपुविपक्षारिप्रियां दिशतु । तमोरिपुः सूर्यस्तस्य विपक्षो राहुस्तस्यारिर्विष्णुस्तस्य प्रिया लक्ष्मीस्तां ददातु । अत्र शब्दबाहुल्येऽर्थस्तोकत्वमेव दोषः । 'अप्पक्खरं महत्थं' एवं न दोषः । शब्दाल्पत्वेऽर्थे बहुलता गुणाय भवति ॥ २१ ॥

मानसरोवर में निवास करने वाला पक्षी (हंस) जिसका वाहन है उन (ब्रह्माजी) के आसन (कमल) के समान लोचनों वाले (अर्थात् कमल-नयन जिनदेव) आप लोगों को अन्धकार के शत्रु (सूर्य) के विपक्षी (राहु) के शत्रु (विष्णु) की प्रिया (लक्ष्मी) अर्थात् श्री-सम्पत्ति प्रदान करें ।

टिप्पणी—इस श्लोक में दो लम्बी-लम्बी पदावलियाँ हैं—एक है 'मानसौकः-पत्त्रयानवेधासनविलोचनः' और दूसरी 'तमोरिपुविपक्षारिप्रियाम्' । इनमें प्रथम का अर्थ है कमलनयन और दूसरी का लक्ष्मी । ये अर्थ शब्दावली की अपेक्षा अत्यन्त छोटे हैं । अतः शब्द और अर्थ में परस्पर संतुलन न होने के कारण आचार्यों ने इसमें 'असम्मित' नामक दोष माना है ॥ २१ ॥

अपक्रमं भवेद्यत्र प्रसिद्धक्रमलङ्घनम् ।
यथा भुक्त्वा कृतस्नानो गुरून्देवांश्च वन्दते ॥ २२ ॥

यत्र वाक्ये प्रसिद्धक्रमलङ्घनं भवेत् तदपक्रमुच्यते । अपगतः क्रमो यस्मात्तदपक्रममुच्यते । तथादौ स्नानं ततो देववन्दनं ततो गुरुनमस्कारं ततो भोजनमित्यादिक्रमोऽयं मम ॥

विभिन्न कार्यों के पूर्वापर क्रम की लोकप्रसिद्ध मान्यता का उल्लंघन करके जहाँ पर क्रम में कुछ उलट-फेर कर दिया जाता है, वहाँ पर 'अपक्रम' नामक दोष माना जाता है । यथा—(वह) भोजन करके स्नानोपरान्त गुरुजनों एवं आचार्यों की वन्दना करता है ।

टिप्पणी—लोकाचार के अनुसार सर्वप्रथम स्नान करना चाहिये, फिर गुरु और देवताओं की वन्दना और तत्पश्चात् भोजनादि अन्य लौकिक कर्म, परन्तु यहाँ कवि ने इस क्रम के विरुद्ध सर्वप्रथम भोजन, तत्पश्चात् स्नान और गुरु तथा देवताओं की वन्दना करना बतलाया है । अतः यहाँ पर 'अपक्रम' दोष मानना चाहिये ॥ २२ ॥

छन्दःशास्त्रविरुद्धं यच्छन्दोभ्रष्टं हि तद्यथा ।
स जयतु जिनपतिः परब्रह्ममहानिधिः ॥ २३ ॥

यद्वाक्यं छन्दःशास्त्रविरुद्धं तच्छन्दोभ्रष्टं कथ्यते । तथेत्युदाहरणे स जिनपतिर्जयतु विजयतां परब्रह्मणो महानिधानं स जयतु इत्यत्र छन्दोभङ्गः । आद्यादक्षरात्सगणस्य पतनादनुष्टुब्लक्षणं नास्ति । तथा चोक्तम्—'पञ्चमं लघु सर्वत्र सप्तमं द्विचतुर्थयोः' इत्यादि । अधिकारस्तु तत्र वृत्तरत्नाकरच्छन्दसि विलोकनीय इति ॥ २३ ॥

यदि किसी वाक्य के लक्षण छन्दःशास्त्रनिर्दिष्ट लक्षणों के विरुद्ध हों तो उसमें 'छन्दोभ्रष्ट' नामक दोष समझना चाहिये। यथा—वे परमश्र महानिधि जिनपति सदा विजयी हों।

टिप्पणी—इस श्लोकार्द्ध में 'स जयति जिनपतिः' अनुष्टुप् छन्द का पाद है—किन्तु इसमें छन्दःशास्त्रनिर्दिष्ट अनुष्टुप् छन्द का लक्षण नहीं है, क्योंकि अनुष्टुप् का लक्षण इस प्रकार से दिया गया है—'श्लोके षष्ठं गुरुज्ञेयं सर्वत्र लघु पंचमम्' इत्यादि। इस नियम के अनुसार उपर्युक्त उदाहरण में जो षष्ठ वर्ण 'न' है उसे गुरु होना चाहिये था न कि लघु, जैसा कि यहाँ पर है। अतः यहाँ 'छन्दोभ्रष्ट' दोष माना गया है ॥ २३ ॥

रीतिभ्रष्टमनिर्वाहो यत्र रीतेर्भवेद्यथा ।
जिनो जयति स श्रीमानिन्द्राद्यमरवन्दितः ॥ २४ ॥

एवं बाली रीतिः समासा……………… ॥ २४ ॥

जिस वाक्यछन्द में किसी रीतिविशेष का यथेष्ट निर्वाह नहीं हो पाता, उसमें रीतिभ्रष्ट नामक दोष उत्पन्न हो जाता है। यथा—इन्द्रादि देवताओं के द्वारा वन्दनीय श्रीसम्पन्न उन जिन भगवान् की सदा जय हो।

टिप्पणी—इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में असमस्त पद होने से वैदर्भी रीति है, किन्तु उत्तरार्द्ध में 'इन्द्राद्यमरवन्दितः' समस्त पद के प्रयोग से गौड़ी रीति है। एक ही पद्य में दो रीतियों का प्रयोग होने से इसमें 'रीतिभ्रष्ट' नामक दोष है ॥२४॥

पदान्तविरतिप्रोक्तं यतिभ्रष्टमिदं यथा ।
नमस्तस्मै जिनस्वामिने सदा नेमयेऽर्हते ॥ २५ ॥

यदान्त्यं पदान्तविरत्या पदमध्ये विरतिर्यतिस्तया प्रोक्तं तद्यतिभ्रष्टं कथ्यते। पदान्ते सर्वत्र विरतिः कार्या न तु पदमध्ये यत् पदमध्यविरतिप्रोक्तं तत् यतिभ्रष्टमुच्यते। यतिविरती पर्यायौ। 'नमस्तस्मै जिनस्वामि' इत्यत्र वर्णपूर्णत्वात्पदान्तयतिः कृता। 'ने' इत्यक्षरं चतुर्थपादे पतितम्। नैवं भवेत्। भवेच्च क्वापि, सन्ध्यादिविशेषमात्रात् ॥ २५ ॥

जिस वाक्य में पद के बीच में ही यतिभङ्ग हो जाय उसमें यतिभ्रष्ट दोष समझना चाहिये। यथा—उन जगत् के स्वामी अर्हत नेमिनाथ भगवान् को हम लोग सदैव नमस्कार करते हैं।

टिप्पणी—इस वाक्य को पढ़ने से 'जगत्स्वामि' के पश्चात् यतिभङ्ग हो जाता है और 'जगत्स्वामिने' पद का 'ने' अंश दूसरे पाद के साथ जोड़ना पड़ता है। इसलिये पद के मध्य में ही (न कि पदान्त में) यतिभङ्ग होने के कारण 'यतिभ्रष्ट' दोष स्पष्ट है ॥ २५ ॥

सत्क्रियापदहीनं यत्तदसत्क्रियमुच्यते ।
यथा सरस्वतीं पुष्पैः श्रीखण्डैर्घुसृणैः स्तवैः ॥ २६ ॥

असती क्रिया यत्र वाक्ये तत्क्रियापदविहीनमसत्क्रियमुच्यते । यथाहं सरस्वतीं पुष्पैरर्चयामि श्रीखण्डैर्घुसृणैर्विलिम्पामि स्तवैः स्तौमीत्यादिक्रियाणामभावादसत्क्रियत्वम् । तथा न विद्यते सती मङ्गलार्था क्रिया यत्रेत्यन्यार्थोऽमङ्गलार्थक्रियाहीनत्वे कश्चिन्न दोषः यथा—

'मा भुजङ्गास्तरङ्गिण्यो मृगेन्द्राः क्रूरदन्तिनः ।
भवन्तं वत्स सम्प्राप्ते पन्थानः सन्तु ते शिवाः ॥'

अत्र हे वत्स, भुजङ्गा मा दाङ्क्षुः, तरङ्गिण्यो मा नैषुः, मृगेन्द्रा मा दार्षुः, क्रूरदन्तिनो दुष्टगजाः पथि त्वां मा भैत्सुरित्याद्यमङ्गलार्थक्रियाहीनत्वेनापि न दोषः । यदि प्रान्ते 'हे वत्स, ते तव पन्थानः शिवाः सन्तु कल्याणा भवन्तु' इति मङ्गलार्थक्रिया प्रयुक्ता । क्रियागुप्तेषु पुनरसत्क्रियाभासत्वमेव, गुप्तायाः क्रियायाः सद्भावात् । यथा—

'राजेन्द्र करवालोऽयं कीर्तिपण्याङ्गनारतः ।
भुजगल्यक्तमूर्तिस्ते द्विषच्छोणितकुङ्कुमैः ॥'

इत्यत्र भुजङ्गतीति क्रियापदं गुप्तम् ॥ २६ ॥

जिस वाक्य में कोई क्रियापद ही न हो उसमें 'असत्क्रिया' नामक दोष समझना चाहिये। यथा—पुष्पों से, चन्दन से, कुंकुम से और स्तुतियों से मैं सरस्वती की (पूजा करता हूँ)।

टिप्पणी—इस वाक्य में 'पूजयामि' क्रियापद के न होने से 'असत्क्रिया' नामक दोष आ गया है ॥ २६ ॥

उक्ता अष्टावपि वाक्यदोषाः । अथ वाक्यस्यार्थदोषानाह—

देशकालागमावस्थाद्रव्यादिषु विरोधिनम् ।
वाक्येष्वर्थं न बध्नीयाद्विशिष्टं कारणं विना ॥ २७ ॥

वाक्यार्थविदः पुरुषा वाक्येषु देशविरोधिनोऽर्थांस्तथा कालविरोधिन आगमविरोधिनोऽवस्थाविरोधिन आदिशब्दाल्लोकविरोधिनोऽप्यर्थान् विशिष्टं कारणं विना न रचयेयुः ॥२७॥

देश, काल, शास्त्र, अवस्था और द्रव्यादि के विरुद्ध अर्थ को प्रतिपादित करने वाले काव्य की रचना बिना किसी कारणविशेष के नहीं करनी चाहिए (क्योंकि इससे काव्य दूषित हो जाता है) ॥ २७ ॥

सर्वेषामुदाहरणान्येकस्मिन्काव्ये प्रदर्श्यन्ते—

प्रवेशे चैत्रस्य स्फुटकुटजराजीसितदिशि
प्रचण्डे मार्तण्डे हिमकणसमानोष्मणि सहसि

जलक्रीडायातं मरुसरसि बालद्विपकुलं
मदेनान्धं विध्यन्त्यसमशरपातैः प्रशमिनः ॥ २८ ॥

यथा प्रशमिनः क्षमापराश्चैत्रस्य चैत्रमासस्य प्रवेशे मार्तण्डे सूर्ये प्रचण्डे सति मरुसरसि मरुस्थलीसरोवरे जलक्रीडायातं पानीयक्रीडार्थमागतं मदेनान्धं बालद्विपकुलं कलभसमूहं असमशरपातैर्विषमबाणप्रहारैर्विध्यन्ति । किंभूते चैत्रप्रवेशे । स्फुटकुटजराजीस्मितदिशि स्फुटाः प्रकटाः कुटजास्तेषां राजी श्रेणिस्तया स्मिता हसिता दिशो यत्र प्रवेशे । किंभूते मार्तण्डे । हिमकणसमानमुष्णानि महांसि [illegible] । तथा [illegible] कुटजा भवन्ति, न वसन्ते इति कालविरुद्धम् । मार्तण्डे हिमशीतलता इति द्रव्यविरुद्धम् । मरुसरसि जलक्रीडा इति देशविरुद्धम् । बालद्विपानां मदान्धतेत्यवस्थाविरुद्धम् । प्रशमिनो विध्यन्तीत्यागमविरुद्धम् ।

यत्र तु विशिष्टं कारणं तत्र न दोषः । यथा—

'त्वद्वैरिनारीनयनाश्रुवारिभिर्नरेन्द्र निर्मूलितपत्रशाखिभिः ।
सरांसि सत्कज्जलकर्दमाविलान्युच्चैरजायन्त मरुस्थलीष्वपि ॥'

इत्यादि अदोषः । एवं सर्वत्र भावनीयम ॥ २८ ॥

प्रफुल्लित मल्लिकापङ्क्ति से सुशोभित दिशाओं से युक्त चैत्र मास के आगमन पर हिमकण के समान उष्ण तेजवाले प्रचण्ड सूर्योदय के समय मरुभूमि के सरोवरों में जलक्रीडा के हेतु आये हुये मतवाले हाथियों के बच्चों को सदैव शान्त रहने वाले (मुनिजन) विषम शरों से बेधते हैं ।

टिप्पणी—उपर्युक्त श्लोक में चैत्र मास में सूर्य की प्रचण्डता समय-विरुद्ध, मरुभूमि में सरोवरों का होना देशविरुद्ध, हाथियों के बच्चों का मदान्ध होना अवस्थाविरुद्ध तथा तीक्ष्ण बाणों से मुनिजनों के द्वारा हाथी के बच्चों को मारना शास्त्रविरुद्ध है । इसीसे यह काव्य दूषित हो गया है ॥ २८ ॥

इति दोषविषनिषेकैरकलङ्कितमुज्ज्वलं सदा विबुधैः ।
कविहृदयसागरोत्थितममृतमिवास्वाद्यते काव्यम् ॥ २९ ॥

विबुधैः सदा कविहृदयसागरोत्थितममृतं देवैरास्वाद्यते इत्युक्तिलेशः ॥ २९ ॥

इति वाग्भटालङ्कारटीकायां सिंहदेवगणिकृतायां द्वितीयः परिच्छेदः ।

कवियों के हृदय-सिन्धु से निकले हुये दोषरूप विष से मुक्त होने के कारण अकलङ्कित अमृततुल्य काव्य-रस का पान विद्वज्जन सदैव किया करते हैं ॥ २९ ॥

॥ द्वितीय परिच्छेद समाप्त ॥

तृतीयः परिच्छेदः

अदोषावपि शब्दार्थौ प्रशस्येते न यैर्विना ।
तानिदानीं यथाशक्ति ब्रूमोऽभिव्यक्तये गुणान् ॥ १ ॥
औदार्यं समता कान्तिरर्थव्यक्तिः प्रसन्नता ।
समाधिः श्लेष ओजोऽथ माधुर्यं सुकुमारता ॥ २ ॥

दोषरहितावपि शब्दार्थौ यैर्गुणैर्विना न प्रशस्येते । इदानीं तान् गुणान्यथाशक्ति शक्तिमनतिक्रम्य यथा भवति तथा अभिव्यक्तये स्पष्टतानिमित्तं वदामः । कवित्वस्यौदार्यादयो दश वक्ष्यमाणा गुणा भवन्ति । नामान्यपि दशानां सुगमानि । तथा अभिव्यक्तये इत्यत्र तादर्थ्ये चतुर्थी । तेन यद्यपि दोषाणामभावो गुणान्साधयति तथापि कति ते गुणाः किंनामानः किंस्वरूपा इत्यभिव्यक्तिर्न स्यात् । अतोऽभिव्यक्तिनिमित्तं वदामः ॥ २ ॥

जिन (औचित्यादि गुणों) के बिना (अनर्थकत्वादि) दोषहीन भी शब्द और अर्थ श्रेष्ठता को प्राप्त नहीं हो सकते उन गुणों को यथाशक्ति स्पष्ट करने के लिये उनका वर्णन किया जा रहा है ॥ १ ॥

उदारता, समता, कान्ति, अर्थव्यक्ति, प्रसन्नता, समाधि, श्लेष, ओज, माधुर्य और सुकुमारता—ये दश गुण हैं ॥ २ ॥

प्रत्येकं सोदाहरणानाह—

पदानामर्थचारुत्वप्रत्यायकपदान्तरैः ।
मिलितानां यदाधानं तदौदार्यं स्मृतं यथा ॥ ३ ॥

यदर्थचारुत्वप्रत्यायकपदान्तरैर्मिलितानामर्थरम्यत्वोत्पादकापरपदैः संयोजितानां पदानामाधानं करणं तदौदार्यं स्मृतम् ॥ ३ ॥

अर्थ की चारुता के प्रत्यायक पद के साथ वैसे ही अन्य पदों की सम्मिलित योजना को 'उदारता' नामक गुण कहते हैं ॥ ३ ॥

उदाहरणमाह—

गन्धेभविभ्राजितधाम लक्ष्मीलीलाम्बुजच्छत्रमपास्य राज्यम् ।
क्रीडागिरौ रैवतके तपांसि श्रीनेमिनाथोऽत्र चिरं चकार ॥ ४ ॥

श्रीनेमिनाथोऽत्र क्रीडागिरौ रैवतके चिरं तपांसि चकार । राज्यमपास्य त्यक्त्वा । कथंभूतं राज्यम् । गन्धेभैर्गन्धहस्तिभिर्विभ्राजितं शोभितं धाम गेहं यस्मिंस्तत् । लक्ष्मीलीलाम्बुजं लीलाकमलं यादृग्भवति एवंविधं छत्रं यस्मिन्राज्ये तल्लक्ष्मीलीलाम्बुजच्छत्रम् । अत्रेभकमलगिरिशब्दानां गन्धलीलाक्रीडापदैर्मिलितानां सतामर्थरम्यत्वोत्पादकत्वादौदार्यम् ।

इभकमलगिरिछन्नानां केवलानां तादृशी न शोभा यादृशी गन्धकीलाक्रीडापदान्तरैः संयोजितानां भवति । एतदौदार्यमुच्यते ॥ ४ ॥

श्रीनेमिनाथ महाराज ने गंधगजों से सुशोभित निवासस्थान और लक्ष्मी के क्रीडाकमलों से निर्मित छत्रयुक्त (अर्थात् ऐश्वर्य से परिपूर्ण) राज्य को छोड़ कर चिरकाल तक रैवतक नामक गिरिपर्वत पर तप किया ॥ ४ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में चारुतासम्पादक 'गन्ध' शब्द के साथ अन्य सुन्दर पद 'इभ', 'लीलाम्बुज' शब्द के साथ 'छत्र' और 'क्रीडा' शब्द के साथ 'गिरि' शब्द अर्थ में चारुता का आधान करते हैं । अतः इसमें 'औदार्य' नामक गुण है ।

समतां कान्तिं चैकश्लोकेनाह—

बन्धस्य यदवैषम्यं समता सोच्यते बुधैः ।
यदुज्ज्वलत्वं तस्यैव सा कान्तिरुदिता यथा ॥ ५ ॥

बन्धस्य यदवैषम्यमविषमता सुकुमारत्वं सा समता मता । तस्यैव बन्धस्य यदुज्ज्वलत्वं निर्मलता सा कान्तिरुच्यते ॥ ५ ॥

बन्ध में पदों के अविषम होने पर जो गुण उत्पन्न होता है उसको 'समता' कहते हैं । और विरुद्धसन्धि आदि दोषों के त्याग से बन्ध में उज्ज्वलता आ जाने पर 'कान्ति' गुण उत्पन्न होता है ॥ ५ ॥

उदाहरणमाह—

कुचकलशविसारिस्फारलावण्यधारा-
मनुवदति यदङ्गासङ्गिनी हारवल्लिः ।
असदृशमहिमानं तामनन्योपमेयां
कथय कथमहं ते चेतसि व्यञ्जयामि ॥ ६ ॥

सा कीदृशी विद्यते इति केनापि कोऽपि पृष्टः सन्नुवाच—भोः, कथय । अहं तां ते तव चेतसि कथं व्यञ्जयामि कथं प्रकटीकरोमि । अनन्योपमेयां अन्याभिर्नोपमीयते इत्यनन्योपमेया ताम् । सर्वोत्तमरूपामित्यर्थः । असदृशमहिमानं सर्वोत्कृष्टमाहात्म्याम् । यदङ्गासङ्गिनी हारवल्लिः यस्या अङ्गलग्ना हारलता कुचकलशविसारिस्फारलावण्यधारामनुवदत्यनुकरोति । कुचकलशाभ्यां स्तनकुम्भाभ्यां विसारिणी प्रसरणशीला स्फारोदारा लावण्यधारा तामनुकरोति एवंविधरूपां तां कथं व्याख्यानयित्वा ते चेतसि प्रकटयामि । अत्रोत्कटपदाभावाद्विषमपदाभावाच्च समबन्धत्वात् समता कथिता । एष समतागुणो द्वितीयः ॥ ६ ॥

जिस (नायिका) के वक्षःस्थल पर लिपटी हुई माला कुम्भ के समान पीन कुचों पर फैली हुई सौन्दर्याभा का अनुकरण करती है, उस असाधारण महिमा से युक्त और निरुपमा सुन्दरी का वर्णन मैं किस प्रकार से आपके सम्मुख करूँ ।

टिप्पणी—यहाँ पर 'कुच' के साथ 'कलश', 'विसारि' के साथ 'स्फार' आदि

ऐसे पदों का प्रयोग किया गया है जिनसे प्रतीत होता है कि इस स्थान पर यही शब्द स्वाभाविक रूप से आना चाहिये था। इन पदों के प्रयोग से बन्ध में उत्पन्न मधुरिमा से 'समता' नामक गुण माना गया है ॥ ६ ॥

फलैः कल्पाहारः प्रथममपि निर्गत्य सदना-
दनासक्तः सौख्ये क्वचिदपि पुरा जन्मनि कृती ।
तपस्यन्नश्रान्तं ननु वनभुवि श्रीफलदलै-
रखण्डैः खण्डेन्दोश्चिरमकृत पादार्चनमसौ ॥ ७ ॥

कस्यापि धनिनो वर्णनमेतत् । असावनिर्दिष्टनामा कृती पुरा जन्मनि पूर्वभवे क्वचित्क्वापि ननु निश्चितं वनभुवि काननभूमौ श्रीफलदलैर्बिल्वदलैः खण्डेन्दोरीश्वरस्य पादार्चनमकृत चकार । कथम्भूतोऽसौ । सदनाद्गृहान्निर्गत्य प्रथममपि फलैः कल्पाहारो रचितभोजनः । अत एव—सौख्येऽनासक्तः । अश्रान्तमखेदं यथा भवति तथा तपस्यन् तपः कुर्वन् । ततोऽनेनेदृशी लक्ष्मीः प्राप्ता । अत्र विरूपसंधिविसर्गलोपप्रभृतिबन्धग्लानिकारणाभावादौज्ज्वल्यं तृतीयो गुणः ॥ ७ ॥

पूर्वजन्म के सुकृती उस (व्यक्ति) ने जो केवल फलाहारी है तथा जो सुख में तनिक भी आसक्त नहीं है, घर से निकलकर वन-प्रदेश में निरन्तर तप करते हुये पूर्ण बिल्वपत्रों से शशिशेखर शिवजी के पावों की चिरकाल तक पूजा की।

टिप्पणी—विरुद्ध सन्धि के त्याग से 'फलैः कल्पाहारः' में विसर्गों के अलोप से और समासहीन होने से इस श्लोक में 'कान्ति' नामक गुण है ॥ ७ ॥

यदक्लेश्यत्वमर्थस्य सार्थव्यक्तिः स्मृता यथा ।
त्वत्सैन्यरजसा सूर्ये लुप्ते रात्रिरभूद्दिवा ॥ ८ ॥

यदर्थस्याक्लेश्यत्वं तत्तच्छब्दसत्तया साक्षादर्थप्रतिपादनेन बलात्काराद्यर्थाप्राप्यत्वं अर्थस्य सुखेन गम्यत्वम् । अल्पबन्धेनापि तादृशाः शब्दाः प्रयुज्यन्ते यादृशैः साक्षादर्थो लभ्यते सा अर्थव्यक्तिरेषा । हे नरेन्द्र, त्वत्सैन्यरजसा सूर्ये लुप्ते दिवसे रात्रिरभूत् । अत्र रात्रेर्हेतुः सूर्यलोपः सूर्यलोपस्य हेतू रजः रजसो हेतुः सैन्यमित्यर्थस्य सुखलभ्यत्वादक्लेश्यत्वम् ॥ ८ ॥

जहाँ पर अर्थ को समझने में किसी तरह का विघ्न नहीं रहता वहाँ 'अर्थव्यक्ति' गुण समझना चाहिये। यथा—आप की सेना के (गमन के) कारण जो धूलि छा गयी है उससे सूर्य छिप गया है और दिन रात्रि में परिणत हो गया है।

टिप्पणी—सूर्यास्त होने से रात्रि का आगमन स्वाभाविक है। इसको समझने के लिये किसी प्रयास की आवश्यकता नहीं होती है। अतएव इस पद्य में 'अर्थव्यक्ति' नामक गुण है ॥ ८ ॥

व्यतिरेकमाह—यत्रार्थस्य क्लेशता तत्र दोषः । यथा—

चतुरङ्गे भवत्सैन्ये प्रसर्पति दिशः क्रमात् ।
नरेन्द्र बहुलध्वान्ता दिवाप्याविरभून्निशा ॥ ९ ॥

अत्र रात्रेर्हेतुः सूर्यलोपः सूर्यलोपस्य हेतू रजः रजसो हेतुः सैन्यमित्यादिहेतोरभावादर्थस्य क्लेशत्वम् । एवं सदोषता (व्याभ) । चतुर्थ एष गुणः ॥ ९ ॥

हे राजन् ! आपकी चतुरंगिणी सेना के क्रमशः दिशाओं तक पहुँचते ही दिन में ही घने अन्धकारवाली रात प्रकट हो गई ।

टिप्पणी—यहाँ पर रात्री के आगमन के हेतु का उल्लेख नहीं किया गया जिसके कारण अर्थ समझने में बाधा पहुँचती है । अतः यहाँ अर्थव्यक्ति गुण नहीं समझना चाहिए ॥ ९ ॥

झटित्यर्थार्पकत्वं यत्प्रसत्तिः सोच्यते बुधैः ।
कल्पद्रुम इवाभाति वाञ्छितार्थप्रदो जिनः ॥ १० ॥

यत् झटिति शीघ्रमर्थार्पकत्वं सा प्रसत्तिरुच्यते । यथा कल्पद्रुमादिपदानामुच्चारणमात्रेणैवार्थार्पकत्वात्प्रसत्तिरुच्यते । एष पञ्चमो गुणः ॥ १० ॥

जिस गुण के कारण शीघ्र—पढ़ते ही—अर्थाविबोध हो जाता है उसे 'प्रसन्नता' अथवा 'प्रसत्ति' कहते हैं । यथा—अभिलषित वस्तु को प्रदान करने वाले जिन देव कल्पतरु की भाँति सुशोभित होते हैं ।

टिप्पणी—यह कहने से कि जिनदेव कल्पतरु की भाँति अभिलषित फल के देने वाले हैं उनकी दानशीलता तुरन्त स्पष्ट हो जाती है । अतः यहाँ पर 'अर्थव्यक्ति' नामक गुण माना गया है ॥ १० ॥

स समाधिर्यदन्यस्य गुणोऽन्यत्र निवेश्यते ।
यथाश्रुभिररिस्त्रीणां राज्ञः पल्लवितं यशः ॥ ११ ॥

यदन्यस्य पदार्थस्य गुणोऽन्यपदार्थे निवेश्यते स्थाप्यते स समाधिगुणः । यथारिस्त्रीणामश्रुभी राज्ञो यशः पल्लवितमित्यत्र पल्लवगुणो वृक्षसम्बन्धी स यशस्यारोपितः । एष समाधिगुणः षष्ठः ॥ ११ ॥

जहाँ पर एक वस्तु के गुण का आधान अन्य वस्तु के साथ किया जाता है, वहाँ 'समाधि' नामक गुण होता है । यथा—शत्रुओं की स्त्रियों के अश्रुओं से राजा का यश पल्लवित हो गया—सरस हो गया ।

टिप्पणी—पल्लवित होना लतावृक्षादि का गुण है, न कि यश का किन्तु कवि ने पल्लवित होने की विशेषता को राजा के यश में नियोजित करके 'समाधि' गुण उत्पन्न कर दिया है ॥ ११ ॥

अथ श्लेषौजोगुणद्वयमेकश्लोकेनैवाह—

श्लेषो यत्र पदानि स्युः स्यूतानीव परस्परम् ।
ओजः समासभूयस्त्वं तद्गद्येष्वतिसुन्दरम् ॥ १२ ॥

पृथग्भूतान्यपि पदानि यत्र स्यूतानीवैकत्रग्रथितानीव समस्तानीव परस्परं भवन्ति स श्लेषगुणः । यत्समासभूयस्त्वं समासप्राचुर्यं भवति स ओजोगुणः । तत्समासभूयस्त्वं गद्येषु गद्यबन्धेष्वतिसुन्दरं भवति ॥ १२ ॥

जिस अलंकार में अनेक पद परस्पर संश्लिष्ट रहते हैं वहाँ 'श्लेष' गुण होता है; और समासबहुला पदावली से 'ओज' गुण उत्पन्न होता है । किन्तु समासबहुला पदावली गद्य में ही शोभित होती है, पद्य में नहीं ॥ १२ ॥

श्लेषोदाहरणमाह—

मुदा यस्योद्गीतं सह सहचरीभिर्वनचरै-
र्मुहुः श्रुत्वा हेलोद्धृतधरणिभारं भुजबलम् ।
दरोद्गच्छद्दर्भाङ्कुरनिकरदम्भात्पुलकिता-
श्चमत्कारोद्रेकं कुलशिखरिणस्तेऽपि दधिरे ॥ १३ ॥

तेऽपि कुलशिखरिणः कुलाचला यस्य राज्ञो भुजबलं सह सहचरीभिः सह पत्नीभिर्वनचरैर्भिल्लैर्मुहुर्वारंवारं मुदा हर्षेणोद्गीतं व्याख्यातं श्रुत्वा चमत्कारोद्रेकं चमत्कारबाहुल्यं दधिरे । कथम्भूताः पर्वताः । दरोद्गच्छद्दर्भाङ्कुरनिकरदम्भात्पुलकिताः ईषदुत्पद्यमानकुशाङ्कुरसमूहमिषाद्रोमाञ्चिताः । एष श्लेषगुणः सप्रमो भवति ॥ १३ ॥

सहचरियों से युक्त वनचरों के द्वारा इस (राजा) के उस भुजबल के यश का गान सुनकर जिससे उसने पृथ्वी के भार को वहन किया था, थोड़े से निकले हुये दर्भाङ्कुरसमूह के दंभ से पुलकायमान (महेन्द्रनिषधादि) कुलपर्वत भी आश्चर्य में पड़ गये । अभिप्राय यह है कि प्राणी ही नहीं जड़ वस्तुयें भी राजा के भुजबल की कीर्ति से चकित हो जाती हैं ।

टिप्पणी—इस श्लोक में 'मुदा यस्योद्गीतं' आदि जितने पद हैं वे एक सूत्र में पिरोई हुयी मणियों की भाँति शोभित हो रहे हैं, क्योंकि इसमें कोई भी पद ऐसा नहीं है जो दूसरे के साथ अस्वाभाविक और अवाञ्छनीय हो। ऐसा प्रतीत होता है कि एक के बाद दूसरा पद अनायास ही निकल पड़ता है। अतः सभी पदों के परस्पर संश्लिष्ट होने से यहाँ पर 'श्लेष' गुण है। कुलपर्वत सात हैं—महेन्द्र, निषध, सह्य, शुक्तिमान्, पारिमात्र, विन्ध्य और हिमाचल ॥१३॥

अथ गद्यबन्धेन ओजोगुणमाह—

समराजिरस्फुरदरिनरेशकरिनिकरशिरःसरससिन्दूरपूरपरिचयेनेवारुणितकरतलो देव ॥ १४ ॥

हे देव, त्वमरुणितकरतलो रक्तीकृतहस्ततलो विभासि । उल्लेखले—समराजिरे संग्रामाङ्गणे स्फुरन्तो येऽरिनरेशानां करिनिकरा हस्तिसमूहास्तेषां शिरःसरससिन्दूरपूरस्तस्य परिचयेनेत्यारुणितकरतलः ॥ १४ ॥

हे राजन् ! समराङ्गण में फड़कते हुए शत्रुराजाओं के हस्तिसमूह के मस्तक पर लगे हुए सुन्दर सिन्दूर के संसर्ग से लाल-लाल हथेलियों वाले आप शोभित हो रहे हैं ।

टिप्पणी—यह गद्यांश समासबहुल होने से 'ओज' गुण का उदाहरण है ॥१४॥

अथ माधुर्यसौकुमार्यगुणावाह—

> सरसार्थपदत्वं यत्तन्माधुर्यमुदाहृतम् ।
> अनिष्ठुराक्षरत्वं यत्सौकुमार्यमिदं यथा ॥ १५ ॥

यत्सरसार्थपदत्वं तदिदं माधुर्यं कथितम् । अर्थाश्च पदानि चार्थपदानि रससहितान्यर्थपदानि यत्र तद्भावः । अथवा सरसार्थानि पदानि तद्भावः सरसार्थपदत्वम् ॥ १५ ॥

सरस अर्थ के प्रकाशक पदों के प्रयोग से 'माधुर्य' गुण उत्पन्न होता है; और जहाँ अनिष्ठुर (कोमल) वर्णों का बाहुल्य होता है वहाँ 'सौकुमार्य' गुण समझना चाहिये ॥ १५ ॥

उदाहरणमाह—

फणमणिकिरणालीस्यूतचञ्चन्निचोलः कुचकलशनिधानस्येव रक्षाधिकारी ।
उरसि विशदहारस्फारतामुज्जिहानः किमिति करसरोजे कुण्डली कुण्डलिन्याः ॥

किमितीति वितर्के । किमयं कुण्डलिन्याः पद्मावत्याः करसरोजे करकमले कुण्डली सर्पः कुचकलशनिधानस्य रक्षाधिकारीवास्ति । अन्यत्रापि निधानस्य सर्पो रक्षां करोति । अत्रापि स्तनकुम्भा एव निधानानि तद्रक्षाकर्तास्ति । फणमणीनां किरणालया स्यूतो निबद्धश्चञ्चन्दीप्यमानो निचोलः कञ्चुको यस्य सर्पस्य सः । उरसि विशदहारतां प्राप्नुवन् । तत्तुल्यतां दधान इत्यर्थः ॥ १६ ॥

(कोई रसिक नायिका के हाथों में हार को देखता है तो उसे सर्प की भ्रान्ति होती है और वह शङ्का करता है कि) फणमणि की किरणावलियों से प्रकाशमान् केंचुल को धारण करने वाला, कुम्भ की भाँति उन्नत एवं पीन कुचों में स्थित (सौन्दर्य के) कोष की रक्षा करने वाला और वक्षःस्थल पर पड़े हुए हार की भाँति स्वच्छता और उज्ज्वलता को प्राप्त करने वाला कुण्डलादि आभूषणों से मण्डित यह सर्प इस कामिनी के कर-कमलों में कहाँ से आ गया ।

टिप्पणी—इस श्लोक में जितने पदों का प्रयोग किया गया है वह सभी सरस अर्थ के बोधक हैं अतः यहाँ 'माधुर्य' गुण हुआ ॥ १६ ॥

सौकुमार्यमाधोदाहरणं चाह—

प्रतापदीपाञ्जनराजिरेव देव त्वदीयः करवाल एषः ।
नो चेदनेन द्विषतां मुखानि श्यामायमानानि कथं कृतानि ॥ १७ ॥

हे देव, एष त्वदीयः करवालः प्रतापदीपाञ्जनराजिरेव वर्तते । प्रताप एव दीपो दीप्यमानत्वात्तस्य प्रतापदीपस्य यद्गोऽञ्जनराजिरञ्जनश्रेणिरतिकृष्णत्वात्खड्गस्य । यद्येवं पूर्वोक्तं न स्यात्तेन खड्गेन द्विषतां मुखानि श्यामायमानानि श्यामत्वमाचरन्ति कथं कृतानि । अत्रानिष्ठुरसमासवत्त्वात्सौकुमार्यम् ॥ १७ ॥

हे राजन् ! आपकी यह कृपाण तेजरूप दीपक से उत्पन्न कज्जल ही है । नहीं तो इसने विद्वेषियों के मुख को काला कैसे कर डाला ?

टिप्पणी—इस श्लोक में कवि ने 'करवाल' की कठोरता का वर्णन किया है, अतः उसे कर्कश शब्दों का प्रयोग ही करना चाहिये था । किन्तु वह कठोर से कठोर वर्णों की सहायता से भी कृपाण की कठोरता को नहीं बतला सकता । इसीसे उसने विवश होकर सभी कोमल वर्णों का आश्रय लिया है । इससे कृपाण की कठोरता स्पष्ट प्रतीत हो जाती है । कोमल वर्णों के प्रयोग से यहाँ पर 'सौकुमार्य' नामक गुण है ॥ १७ ॥

गुणैरमीभिः परितोऽनुविद्धं मुक्ताफलानामिव दाम रम्यम् ।
देवी सरस्वत्यपि कण्ठपीठे करोत्यलङ्कारतया कवित्वम् ॥ १८ ॥

अमीभिरौदार्यादिभिर्गुणैः परितः समन्ततोऽनुविद्धं व्याप्तं कवित्वं देवी सरस्वत्यपि अलङ्कारतया करोति मुक्ताफलानां दामेव । यथा मुक्ताफलानां मालालंकारतया कण्ठपीठे शोभया क्रियते सा परितो गुणैरनुविद्धा भवति तथा कवित्वमलंकारतया कण्ठपीठे क्रियते । अतोऽलङ्कारावसरस्तत्तत्रैव नामतः प्राह ॥ १८ ॥

इति वाग्भटालङ्कारटीकायां सिंहदेवगणिकृतायां तृतीयः परिच्छेदः ।



देवी सरस्वती (अथवा वाणी) उपर्युक्त औदार्यादि गुणों से सम्यक् रूपेण गुँथे हुए काव्य को मोतियों के दानों से पिरोई हुई माला की भाँति आभूषण रूप से अपने कण्ठ में धारण कर लेती हैं (अर्थात् कवि की वाणी गुणसम्पन्न निर्दुष्ट काव्य को ही अङ्गीकार करती है, दूषित काव्य को नहीं) ॥ १८ ॥

॥ तृतीय परिच्छेद समाप्त ॥



चतुर्थः परिच्छेदः

दोषैर्मुक्तं गुणैर्युक्तमपि येनोज्झितं वचः ।
स्त्रीरूपमिव नो भाति तं ब्रुवेऽलंक्रियोच्चयम् ॥ १ ॥

येनालंक्रियोच्चयेनालङ्कारसमुदायेनोज्झितं त्यक्तं वचो नो भाति । यथा स्त्रीरूपमलंक्रियोच्चयं विना नो भवति । काव्यविषये चित्रवक्रोक्त्यादयोऽलङ्काराः । स्त्रीरूपविषयेऽलङ्काराः कटककेयूरतिलकादयः ॥ १ ॥

अनर्थकत्वादि दोषों से रहित और औदार्यादि गुणों से युक्त (किन्तु अलङ्कारहीन) होने से भी काव्य कान्ताकान्तिवत् शोभित न होने के कारण त्याज्य होता है । अतः अलङ्कारसमूह का वर्णन किया जा रहा है ॥ १ ॥

चित्रादयोऽलंक्रिया अलंकारा द्विविधाः—शब्दालङ्कारा अर्थालङ्काराश्च । ततः प्रथमं शब्दालङ्कारांस्ततोऽर्थालङ्कारान्प्राह नाममात्रतः पश्चाद्विस्तरतः सोदाहरणानाह—

चित्रं वक्रोक्त्यनुप्रासो यमकं ध्वन्यलंक्रियाः ।
अर्थालङ्कृतयो जातिरुपमा रूपकं तथा ॥ २ ॥
प्रतिवस्तूपमा भ्रान्तिमानाक्षेपोऽथ संशयः ।
दृष्टान्तव्यतिरेकौ चापह्नुतिस्तुल्ययोगिता ॥ ३ ॥
उत्प्रेक्षार्थान्तरन्यासः समासोक्तिर्विभावना ।
दीपकातिशयौ हेतुः पर्यायोक्तिः समाहितम् ॥ ४ ॥
परावृत्तिर्यथासंख्यं विषमः स सहोक्तिकः ।
विरोधोऽवसरः सारं स श्लेषश्च समुच्चयः ॥ ५ ॥
अप्रस्तुतप्रशंसा स्यादेकावल्यनुमापि च ।
परिसंख्या तथा प्रश्नोत्तरं संकर एव च ॥ ६ ॥

प्रागमीषां नामानि प्रत्येकमाह—चित्रमित्यादिश्लोकपञ्चकेन । तथा चित्रादयश्चत्वारोऽपि ध्वन्यलङ्कारा अवगन्तव्याः । अर्थालङ्कारा जात्युपमारूपकादयः ॥ ६ ॥

चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास और यमक—ये चार शब्दालङ्कार हैं । अर्थालङ्कारों की गणना इस प्रकार की गयी है—(१) जाति, (२) उपमा, (३) रूपक, (४) प्रतिवस्तूपमा, (५) भ्रान्तिमान् , (६) आक्षेप, (७) संशय, (८) दृष्टान्त, (९) व्यतिरेक, (१०) अपह्नुति, (११) तुल्ययोगिता, (१२) उत्प्रेक्षा, (१३) अर्थान्तरन्यास, (१४) समासोक्ति, (१५) विभावना (१६) दीपक, (१७) अतिशयोक्ति, (१८) हेतु, (१९) पर्यायोक्ति, (२०) समाहित, (२१) परिवृत्ति, (२२) यथासंख्य, (२३) विषम, (२४) सहोक्ति, (२५) विरोध, (२६) अवसर,

(२७) सार, (२८) संश्लेष, (२९) समुच्चय, (३०) अप्रस्तुतप्रशंसा, (३१) एकावली, (३२) अनुमान, (३३) परिसंख्या, (३४) प्रश्नोत्तर और (३५) सङ्कर ॥ २-६ ॥

अथ चित्रादीनामलङ्काराणां सोदाहरणानि लक्षणान्याह—

यत्राङ्गसन्धितद्रूपैरक्षरैर्वस्तुकल्पना ।
सत्यां प्रसत्तौ तच्चित्रं तच्चित्रं चित्रकृच्च यत् ॥ ७ ॥

यत्र बन्धे वस्तुकल्पना पदार्थघटना अङ्गसन्धितद्रूपैरक्षरैर्भवति । वस्तुनः कमलचक्रखड्गचामरबन्धादेर्घटना वस्तुनोऽङ्गानां ये सन्धयस्तेषु तद्रूपाणि तान्येवाक्षराणि वस्तुकमलचक्रखड्ग बन्धादितदङ्गानि कमलाङ्गानि दलादीनि । खड्गाङ्गानि दण्डपट्टिकादीनि तेषामङ्गानां ये सन्धयस्तत्र सदृशाक्षराणि कार्याणीत्यर्थः । तच्चित्रमुच्यते । यच्च चित्रकृदाश्चर्यकारि दुष्करत्वेन कविप्रज्ञातिशयख्यापकं भवति एकस्वरादिकमेकव्यञ्जनादिकं वा तदपि चित्रमुच्यते । परमपि यथाचित्रं प्रसत्तौ सत्यां प्रसत्तेरेव काव्यैर्विधेयम् । अप्रसत्तेस्तु तान्यैः को नाम चित्रकवि्र्भवेत् । चित्रमाकारगतिस्वरव्यञ्जनभेदाच्चतुर्विधं भवति । आकारचित्रं पद्मचक्रचामरस्वस्तिककलशहलमुसलादिबन्धैरनेकधा । गतिचक्रं गोमूत्रिकातुरगगजपदादिभिर्भवति । स्वरेण स्वराभ्यां स्वरैर्वा चित्रं स्वरचित्रम् । स्वरत्रयं यावच्चित्रकत्वं दुष्करत्वं सम्भवति । स्वरत्रयादूर्ध्वं किं चित्रम् । तथा मात्राच्युतकबिन्दुच्युतकादीनि स्वरचित्रभेदाः । तथा व्यञ्जनचित्रं एकव्यञ्जनद्विव्यञ्जनत्रिव्यञ्जनचतुर्व्यञ्जनबन्धं यावद्व्यञ्जनचित्रम्, न तत्परं सुकरत्वात् । अक्षरच्युतकं व्यञ्जनचित्रभेदः ॥ ७ ॥

जिस पद्यबन्ध में अङ्गसन्धिरूप अक्षरों से प्रसाद-गुणयुक्त अर्थ की कल्पना की गई हो उसे चित्रालङ्कार कहते हैं । इसे 'चित्र' इसलिये कहते हैं क्योंकि इस में की गई रचना (पाठक को) आश्चर्य-चकित कर देती है ॥ ७ ॥

आकारचित्रमाह—

जनस्य नयनस्थानध्वान एनश्छिनत्त्विनः ।
पुनः पुनर्जिनः पीनज्ञानध्यानधनः स नः ॥ ८ ॥

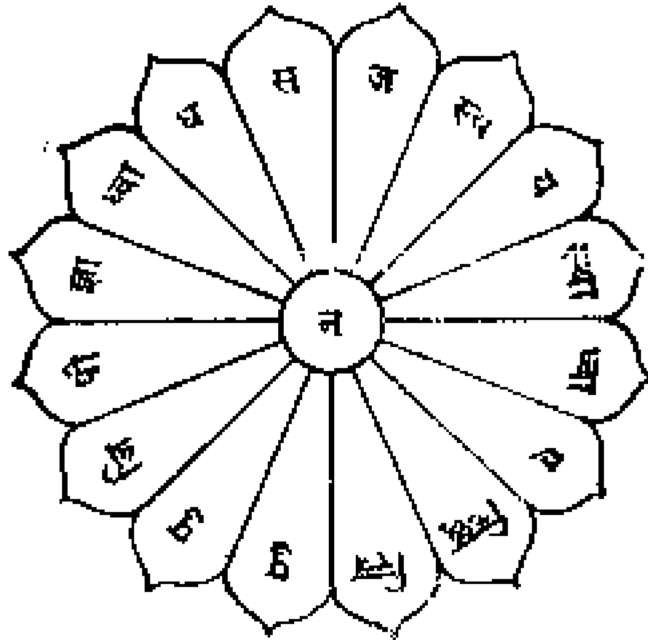
स जिन इनः स्वामी नोऽस्माकमेनः पापं पुनः पुनश्छिनत्तु । किंभूतो जिनः । जनस्य नयनस्थानध्वानः । जनस्य लोकस्य नयनस्थाने ध्वानो ध्वनिर्यस्य स तथा । जिनध्वनिना आगमरूपेण नयनेनैव जनः परलोकं पश्यतीत्यर्थः । तथा पीनं स्फारतरं ज्ञानध्याने एव धनं यस्य स तथा षोडशदलं कमलं गोमूत्रिकाचित्रम् ॥ ८ ॥

समस्त लोक के नयन ही जिनके निर्वाणकारक वचन हैं, जो सर्वपूज्य हैं और महान् ज्ञान-धन ही जिनका एकमात्र धन है वे जिनभगवान् पुनः पुनः हम लोगों के पापों का नाश करें ।

टिप्पणी—इस श्लोक में जो 'जनस्य' इत्यादि पद हैं उनकी सन्धियों में एक

समान वर्ण 'न' होने से 'चित्र' अलङ्कार है। यह षोडशदल-पद्मबन्ध-चित्र है, किन्तु कुछ आचार्यों के अनुसार गोमूत्रिका-बन्धचित्र भी हो सकता है। षोडशदल-पद्मबन्ध-चित्र का रूप निम्न प्रकार होता है ॥ ८ ॥

षोडशदलपद्मबन्धचित्र



गोमूत्रिकाबन्धचित्र

ज	भ	स्य	न	य	न	स्था	न	ध्या	न	प्र	मः	छि	न	रिय	मः
पु	नः	पु	नः	जि	नः	पी	न	ज्ञा	न	ध्या	न	ध	नः	स्व	मः

एकस्वरचित्रमाह—

गणनरगणवरकरतरचरण परपद शरणगजनपथकथक ।
अमदन गतमद गजकरयमल शमभय जय भयघनवनदहन ॥ ९ ॥

हे गणनरगणवरकरतरचरण । गणा ऋषयो नरा मनुष्याश्च क्रियासु देवादयः । गणनराणां गणाः समूहास्तेषां वरस्य कल्याणस्य करतरौ प्रकृष्टं कल्याणकरौ चरणौ यस्य स तत्संबोधनम् । तथा परं पदं यस्य सः । हे शरणगजनपथकथक हे शरणागतलोकमार्गनिर्देशक । हे अमदन निष्काम । हे गतमद निर्मद । हे गजकरयमल गजकरौ हस्तिशुण्डादण्डस्तद्वत्करयमलं यस्य सः । एककारस्याभ्यस्य लोपः । हे शममय । हे भयघनवनदहन । भयमेव

फलं वनं पानीयं तस्य दहन इव दहनस्तत्संबोधनम् । अत्र मणिगुणनिकरं छन्दः । चित्रत्वा-दन्ते गुरूणामभावोऽपीह न दोषाय । एकस्वरचित्रम ॥ ९ ॥

हे श्रेष्ठगणों के समूह को अतिशय रूप से अभिलषित फलों को प्रदान करने-वाले ! श्रीचरणों से युक्त ! हे निर्वाण-पथ पर चलने वाले मनुष्यों के पथ-प्रदर्शक ! हे कामनाओं से रहित ! हे निरहंकार ! हे हाथी की सूँड़ की भाँति विशाल भुजाओं वाले ! हे शान्तिरूप ! हे भवरूप गहन वन को दहन करने वाले ऋषभ देव ! आप की जय हो ।

टिप्पणी—यहाँ सम्पूर्ण श्लोक में अकार के अतिरिक्त अन्य कोई स्वर न होने के कारण स्वरचित्र है ॥ ९ ॥

मात्राच्युतकमपि स्वरचित्रम् । अतस्तदेवाह—

मूलस्थितिमधः कुर्वन्पार्श्वैर्जुष्टो गताक्षरैः ।
विटः सेव्यः कुलीनस्य तिष्ठतः पथिकस्य सः ॥ १० ॥

स दासीहृतो विटः पथि न्यायमार्गे तिष्ठतः कस्य कुलीनस्य सेव्यः स्यात् । न कस्या-पीत्यर्थः । कीदृशः । मूलस्थितिं मूलकुलाचारमधः कुर्वन् । तथा गताक्षरैर्मूर्खैः पार्श्वैर्जुष्टः । अथ विटशब्दस्य इकारच्युतस्यार्थभेदः । स इति प्रसिद्धो विटोऽवटः पथिकस्य पान्थस्य तिष्ठतो निवर्त-मानगतेः कुलीनस्य तदधोभूमावुपविष्टस्येत्यर्थः । सेव्यः स्यात् । पान्थस्य गच्छतोऽनुपविष्टस्य कथं वटः सेव्यः स्यात् । तत्तिष्ठतः कुलीनस्येति विशेषणद्वयस्य साफल्यं ज्ञातम् । कीदृशो वटः । मूलानां जटानामधः स्थितिं कुर्वन् । तथा—गताक्षरैः पार्श्वैर्जुष्टः एवं गतमासमन्तात्क्षरं क्षरणं येभ्यस्तैर्गताक्षरैः पार्श्वैः पर्णैर्जुष्टः । विटपदादिकारमात्राच्युतकं वट इति ॥ १० ॥

कुल की मर्यादा का उल्लङ्घन कर देनेवाला, निरक्षर (विदूषक आदि) पात्रों से घिरा हुआ लम्पट व्यक्ति सन्मार्ग पर चलनेवाले किस कुलीन (सत्पुरुष) के द्वारा सेवनीय है ? किसी के द्वारा भी तो नहीं ।

'विट' शब्द से इकार निकाल देने पर 'वट' शब्द रह जाने के कारण ही इसमें 'चित्र' है । 'वट' शब्द से इस श्लोक का यह अर्थ होगा—

अपनी जड़ों को पृथ्वी के नीचेतक फलाये रखनेवाला, नवीन पत्तों से लदा-हुआ वह वट वृक्ष पृथ्वी पर बैठे हुए पथिक के द्वारा सेवनीय है ॥ १० ॥

तथा बिन्दुच्युतकमपि स्वरचित्रम् । तदाह—

धर्माधर्मविदः साधुपक्षपातसमुद्यताः ।
गुरूणां वञ्चने निष्ठा नरके यान्ति दुःखिताम् ॥ ११ ॥

एवंविधा नरा नरके दुःखितां यान्ति दुःखभावं प्राप्नुवन्ति । धर्ममेवाधर्मं कृत्वा विदन्तीति धर्माधर्मविदः । साधुपक्षः सतां पक्षस्तस्य पाते पतने नाशने समुद्यताः । गुरूणां पूज्यानां वञ्चने निष्ठा आसक्ताः । अथ वञ्चनशब्दाद्बिन्दुच्युतावर्थान्यत्वम् । तथा हे नरोत्तम, गुरूणां

पित्रादीनां वचने निदेशे निशास्तत्पराः के दुःखिता यान्ति । न केऽपीत्यर्थः । कीदृशाः । धर्माधर्मविदः पुण्यपापव्यक्तिज्ञातारः । साधूनां यः पक्षपातः पक्षस्वीकारस्तत्र समुद्यताः आसक्ताः । वक्षनपक्षाद्भिन्दुच्युतकं वचन इति ॥ ११ ॥

इस श्लोक के दो अर्थ हो सकते हैं—एक 'वचने' से और दूसरा 'वक्षने' से । 'वक्षने' शब्द के अनुस्वार को हटा देने से नवीन अर्थ की उद्भावना में ही 'चित्र' है । 'वक्षने' शब्द से इस श्लोक का यह अर्थ होगा—

धर्म को अधर्म समझने वाले, सज्जनों के सत्कर्म को नष्ट करने के लिये उद्यत और गुरुजनों के प्रवञ्चन में सतत लगे रहनेवाले मनुष्य दुःख का भोग करते हुए नरक के भागी होते हैं ।

'वचन' शब्द से इस प्रकार अर्थ होगा—

हे मनुष्य ! धर्माधर्म का विवेक रखने वाले, सज्जनों के पक्ष को ग्रहण करने वाले तथा गुरुजनों के वचनों का पालन करने वाले कौन सत्पुरुष दुःख के भागी होते हैं ? कोई नहीं ॥ ११ ॥

ककाकुकङ्ककेकाङ्ककेकिकोकैककुः   ककः ।
अकुकौकःकाककाकश्ककाकुकुककाङ्ककुः   ॥ १२ ॥

ककाकु इत्येव श्लोक एकव्यञ्जनो नेमिनिर्वाणमहाकाव्ये राजीमतीपरित्यागाधिकारे समुद्रवर्णनरूपो ज्ञेयः तथा ककः समुद्रो वर्तते । केन अर्केनोपलक्षितः को वायुर्यत्र स ककः । यद्वा केन वायुना प्रेरितं कं जलं यत्र स ककः । अथवा कमेव कमात्मा यस्य स ककः । समुद्रः कीदृशः । ककाकुकङ्ककेकाङ्ककेकिकोकैककुः । कं सुखं यथा भवति काकुध्वनिविशेषा ते ककाकवः । अथवा केन सुखेन जलेन वा काकवो ध्वनिविशेषा येषां ते ककाकवः । ककाकवश्च ते कङ्काश्च । कङ्का जलपक्षिणः । तथा केका केकारवोपलक्षिता येषां ते केकाङ्काः केकिनो मयूराः । तथा कोकाश्चक्रवाकाः । कुं निधौ मेलकः । ककाकुकङ्काः केकाङ्ककेकिनः कोका एकैका अद्वितीया कुर्भूमिर्यस्य स तथा । तथा—अकुकौकःकाककाकः । कवः कुत्सिताः न कवोऽकवः शोभनाः कौकसो जलवासिनः काकाः । शोभनजलवायसा इत्यर्थः । तेषां समूहः काकं काकमेव काककम् । स्वार्थे कः । तस्य भक्ता माला यः समुद्रः स एव पालकत्वान्माला । तथा—श्ककाकुकुककाङ्ककुः । ऋचो वेदवाक्यानि तेषां काकवो वक्रोक्तयस्तासां कुक उच्चारकः को ब्रह्मा सोऽङ्कः उत्सङ्गे यस्यासौ अर्थादेव विष्णुस्तस्य कुः स्थानं समुद्रः । जलशायनत्वादस्येति ॥ १२ ॥

इस सागर में एकमात्र सुखकारी ध्वनि को उत्पन्न करनेवाले 'कङ्क' नामक पक्षिविशेष तथा 'केका' नामक ध्वनिविशेष से पहिचाने जानेवाले मोर और चक्रवाक पक्षी रहते हैं । और यह समुद्र उन विष्णु भगवान् का निवास-स्थान

है जिसके अङ्क में निर्मल जल में निवास करनेवाले कौओं को (बलि-ग्रहणार्थ) बुलानेवाले ब्रह्माजी विराजमान हैं ॥ १२ ॥

टिप्पणी—यहाँ पर केवल 'क' व्यञ्जन से समस्त श्लोक की रचना होने से 'चित्र' नामक अलङ्कार है ।

तथैकव्यञ्जनच्युतकमपि व्यञ्जनचित्रं तत्सदृशं बाह—

कुर्वन्दिवाकराश्लेषं दधच्चरणडम्बरम् ।
देव यौष्माकसेनायाः करेणुः प्रसरत्यसौ ॥ १३ ॥

हे देव, यौष्माकसेनाया असौ करेणुर्गजः प्रसरति । कीदृशः । दिवा आकाशेन सह कराश्लेषं कुर्वन् । तथा चरणडम्बरं दधत् । पक्षे वर्णच्युतकत्वात्ककारलोपे असौ रेणुः प्रसरति । कीदृशः । दिवाकरेण सूर्येण सहाश्लेषं कुर्वन् सूर्यं छादयन्नित्यर्थः । च समुच्चये । रणडम्बरं संग्रामडम्बरं दधत् । करेणुपदात्ककारच्युतकम् ॥ १३ ॥

हे महाराज ! आप की सेना के हाथियों की विशालता को क्या कहा जाय ! वे अपनी सूँड से आकाश का आलिङ्गन-चुम्बन करते हुए और सेना के आडम्बर को धारण किये हुए इधर-उधर विचरण करते रहते हैं ।

'करेणु' शब्द से 'क' निकाल देने से 'रेणु' शब्द शेष रह जाता है, जिससे इस श्लोक का यह अर्थ होता है—

हे राजन् ! आप की सेना के चलने के कारण उड़नेवाली धूलि आकाशतक जाकर सूर्य को ढक लेती है; और युद्धभूमि में भीषणता उत्पन्न करके यह इधर-उधर छा जाती है ।

टिप्पणी—इस श्लोक में आये हुए 'करेणु' शब्द का दो प्रकार से अर्थ किया गया है—प्रथम 'करेणु' शब्द से और दूसरा करेणु के 'क' को हटा देने के कारण 'रेणु' रह जाने से ॥ १३ ॥

प्रस्तुतादपरं वाक्यमुपादायोत्तरप्रदः ।
भङ्गश्लेषमुखेनाह यत्र वक्रोक्तिरेव सा ॥ १४ ॥

यत्र बन्धे उत्तरप्रदः पुमान्प्रस्तुतादर्थादपरं वाच्यमर्थमुपादाय भङ्गश्लेषपरेन वाह वदति सा वक्रोक्तिरेव ॥ १४ ॥

जब उत्तर देनेवाला व्यक्ति (किसी पद को) भङ्ग करके अथवा उस (पद) में आये हुए श्लेष के आश्रय से पूछनेवाले के द्वारा प्रस्तावित अर्थ से भिन्न अर्थ के द्योतक वाक्य का आश्रय लेकर उत्तर देता है तब 'वक्रोक्ति' अलङ्कार समझा जाता है । भङ्ग और श्लेष से वक्रोक्ति के दो भेद हुए—सभङ्गश्लेष-वक्रोक्ति और अभङ्गश्लेषवक्रोक्ति ॥ १४ ॥

भङ्गपदोदाहरणमाह—

नाथ मयूरो नृत्यति तुरगाननवक्षसः कुतो नृत्यम् ।
ननु कथयामि कलापिनमिह सुखलापी प्रिये कोऽस्ति ॥ १५ ॥

प्रस्तुतो मयूरः केकी । वक्रोक्तौ तु तुरङ्गवदनो मयुः किन्नरस्तस्योरो वक्षस्तन्नृत्यतीति भर्त्रोक्तम् । तुरगाननस्य वक्षसो नृत्यं कुतः । हे नाथ, अहं कलापिनं कथयामि इति पत्न्योक्तः । इह कलापी सुखवक्ता । हे प्रिये, कोऽस्ति । भङ्गपदं प्रस्तुतशब्दस्य खण्डना यथा । मयूरस्य कलापिनो वा ॥ १५ ॥

नृत्य करते हुए मयूर को देखकर आश्चर्य-चकित नायिका अपने प्रियतम को पुकार कर कहती है—'हे स्वामिन् ! मयूर नाच रहा है ।' प्रियतम ने 'मयूर' शब्द को भङ्ग करके 'मयु' नामक राक्षस का उर (हृदय) समझने का स्वांग किया और पूछने लगा कि 'अरे ! मयुराक्षस के हृदय का नाच कैसा ?' नायिका ने अपने मन्तव्य को अधिक स्पष्ट करने के लिये मयूर का दूसरा नाम (कलापी) लेकर कहा—'हे प्रियतम ! मेरा तात्पर्य है कि पिच्छों को धारण करनेवाला कलापी (मोर) नाच रहा है ।' प्रियतम ने नायिका को खिझाने के लिये 'कलापिनः' का अर्थ किया सुख से आलाप करने वाले ('क' का अर्थ है सुख और 'लापिनः' का आलाप करने वाले) और फिर एक तीक्ष्ण व्यंग्य से कहा—'प्रिये ! कहो, यहाँ पर सुख से आलाप करने वाला है ही कौन ?'

टिप्पणी—यहाँ पर उत्तरदाता (नायक) ने 'मयूर' और 'कलापिनः' शब्दों को भङ्ग करके भिन्न अर्थ से उत्तर दिया है । अत एव यह सभङ्गश्लेषवक्रोक्ति का उदाहरण हुआ ॥ १५ ॥

भर्तुः पार्वति नाम कीर्तय न चेत्त्वां ताडयिष्याम्यहं
क्रीडाकञ्जेन शिवेति सत्यमनघे किं ते शृगालः पतिः ।
नो स्थाणुः किमु कीलको न हि पशुस्वामी नु गोप्ता गवां
दोलाखेलनकर्मणीति विजयागौर्योर्गिरः पान्तु वः ॥ १६ ॥

खेलनकर्मणि क्रीडाकर्मणि इत्येवंभूता विजयागौर्योर्गिरो वो युष्मान्पान्तु । विजया गौरीं पृच्छति—हे पार्वति, भर्तुर्नाम कीर्तय कथय नो चेदनेन क्रीडाकमलेन त्वां ताडयिष्याम्यहम् । पार्वत्योक्तम्—स्फुटं प्रकटमिदमेतन्मे पतिः शिवः । विजयोचे—तव पतिः शृगालः । नो नो सखि, मे पतिः स्थाणुः । किं कीलकस्तव भर्ता । नहि नहि भगिनि, मम पतिः पशुस्वामी । तव पतिः किं गवां गोप्ता पशुपतिः पशुपालो गोपालकः । इत्याद्या विजयागौर्योर्दोलाखेलनकर्मणि वाचः पान्तु । प्रस्तुतादर्थाच्छिवादपरं शृगालादिकमर्थमादाय श्लेषेण विजया गौरीं प्रति वदति । इत्येषा श्लेषपदवक्रोक्तिः ॥ १६ ॥

विजया ने पार्वती से कहा—'हे पार्वति ! अपने स्वामी का नाम बताओ, नहीं तो मैं तुम्हें लीलाकमल से पीटूँगी ।' पार्वती ने उत्तर दिया—'सखमुख, मेरे स्वामी शिव-शङ्कर हैं ।' विजया ने श्लेष से 'शिव' शब्द का अर्थ श्रृगाल किया और पूछने लगी 'री सखि ! क्या तेरा पति श्रृगाल है ?' भोली-भाली पार्वती ने अपने भाव को और स्पष्ट करने के लिये कहा—'नहीं सखि ! मेरे पति स्थाणु (शिव) हैं ।' चञ्चल विजया ने पुनः श्लेष से 'स्थाणु' का अर्थ ठूँठ किया और आश्चर्य से कहने लगी—अरी सखि ? तू क्या कहती है, तेरा पति ठूँठ है ?' इस पर गौरी लज्जित हो गयी । उसने शिव का अधिक लोकप्रचलित नाम 'पशुपति' लेकर कहा—'मेरा तात्पर्य है पशुपति शिव से ।' लेकिन क्रीडा में पगी हुयी विजया को सन्तोष कहाँ ? उसने कहा—'अच्छा, सो तुम्हारा पति ग्वाला है !' इस प्रकार हिंडोला झूलने के समय कहे गये विजया और गौरी पार्वती के वचन तुम लोगों की रक्षा करें ।

टिप्पणी—इस श्लोक में श्लेष के आश्रय से 'शिव', 'स्थाणु' और 'पशुपति' शब्दों का अर्थ श्रृगाल, ठूँठ और ग्वाला किया गया है । अतः यह अभङ्गश्लेष का उदाहरण हुआ ॥ १६ ॥

अनुप्रासमाह—

तुल्यश्रुत्यक्षरावृत्तिरनुप्रासः स्फुरद्गुणः ।
अतत्पदः स्याच्छेकानां लाटानां तत्पदश्च सः ॥ १७ ॥

तुल्या समाना श्रुतिः श्रवणं येषामक्षराणां तानि तुल्यश्रुत्यक्षराणि तेषामावृत्तिः पुनः पुनरुपादानमनुप्रासः कथ्यते । कीदृशः । स्फुरद्गुणः स्फुरन्तोऽवभासिता औदार्यादयो गुणा येन स तथा । सोऽनुप्रासो द्विधा—छेकानुप्रासो लाटानुप्रासश्च । छेका विदग्धाः छेकजन-वल्लभत्वाच्छेकानुप्रासः । लाटजनवल्लभत्वाल्लाटानुप्रासः । तथा छेकानामनुप्रासोऽतत्पदः । तान्येव पदानि यत्र स तत्पदः न तत्पदोऽतत्पदः । अन्यैरन्यैः पदैरतत्पद इत्यर्थः । लाटानां तत्पदस्तैस्तैरेव पदैर्निष्पन्न इत्यर्थः ॥ १७ ॥

समान सुनाई देनेवाले अक्षरों की बार बार आवृत्ति हो और माधुर्यादि गुणों की स्फुरणा हो तो 'अनुप्रास' समझना चाहिये । अनुप्रास दो प्रकार का होता है—'छेकानुप्रास', जिसमें केवल एक वर्ण की ही आवृत्ति होती है और 'लाटानुप्रास', जिसमें सम्पूर्ण पद की पुनरावृत्ति होती है ॥ १७ ॥

छेकानुप्रासोदाहरणमाह—

अलं कलङ्कशृङ्गार करप्रसरहेलया ।
चन्द्र चण्डीशनिर्माल्यमसि न स्पर्शमर्हसि ॥ १८ ॥

काचिद्विरहिणी चन्द्रमसं प्रत्याह—हे कलङ्कधर, करप्रसरेणालं पूर्यताम् । हे चन्द्र, त्वं चण्डीशनिर्माल्यमसि स्पर्शं नार्हसि निर्माल्यस्पर्शो न युज्यते सताम् । अत्र कलङ्कधरकरप्रसरचन्द्रचण्डीशेत्यादितत्पदैश्छेकानुप्रास इति ॥ १८ ॥

कोई विरहिणी नायिका चन्द्रमा से कहती है—"रे लाञ्छननिभूषित चन्द्र ! तू अपनी किरणों के प्रसार की क्रीडा का बन्द कर दे; क्योंकि तू चण्डीश (शिव) के मस्तक से उतरा हुआ होने के कारण अस्पृश्य है—कहीं तेरी किरणें मुझसे न छू जायें (शिव का निर्माल्य अग्राह्य समझा जाता है) ।

टिप्पणी—प्रथम चरण में 'क' और 'र' की तथा द्वितीय चरण में 'च' और 'स' की पुनरावृत्ति होने के कारण छेकानुप्रास है ॥ १८ ॥

रणे रणविदो हत्वा दानवान्दानवद्विषा ।
नीतिनिष्ठेन भूपाल भूरियं भूस्त्वया कृता ॥ १९ ॥

हे भूपाल, दानवद्विषा वासुदेवेन रणे संग्रामे रणविदः संग्रामनिपुणान्दानवान्हत्वा इयं भूर्भूः कृता । त्वया नीतिनिष्ठेन न्यायनिपुणेन सता इयं भूर्भूः कृता, इदं पुरं पुरमेव जातम्, तथेयं भूर्भूः कृता । अत्र रणे रणविदः, दानवान्दानवद्विषा, भूरियं भूरित्यादितत्पदत्वेनैवानुप्रासकरणाल्लाटानुप्रासः ॥ १९ ॥

हे राजन् ! नीति पर चलनेवाले दानवों के वैरी आपने संग्राम में रणकुशल वैरियों को मार कर इस पृथ्वी को रत्नगर्भा बना दिया है ।

टिप्पणी—इस श्लोक में 'रण', 'दानव' और 'भू' पदों की पुनरावृत्ति हुई है । अतः यह 'लाटानुप्रास' का उदाहरण है ॥ १९ ॥

त्वं प्रिया चेच्चकोराक्षि स्वर्गलोकसुखेन किम् ।
त्वं प्रिया यदि न स्यान्मे स्वर्गलोकसुखेन किम् ॥ २० ॥

हे चकोराक्षि, यदि त्वं मम प्रिया जाता तदा स्वर्गलोकसुखेन नाकलोकसुखेन मम किम् । यदि च त्वं प्रिया न स्याः मम तथापि त्वां विना स्वर्गलोकसुखेन किं मम । अत्र द्वितीयचतुर्थपादेन लाटानुप्रासो भवति ॥ २० ॥

हे चकोराक्षि ! यदि तू मेरी प्यारी है तो मेरे लिये स्वर्ग में प्राप्त होने वाले सुखों से क्या ? ये सभी सुख तेरे सामने तुच्छ हैं; और यदि तू मेरी प्यारी नहीं है तो भी मेरे लिये स्वर्ग के समस्त सुखों से क्या प्रयोजन ! वे भी तो व्यर्थ ही हैं क्योंकि तेरे बिना स्वर्ग-सुखों में भी आनन्द कहाँ ।

टिप्पणी—यहाँ 'स्वर्गलोकसुखेन किम्' इस पाद की पुनरावृत्ति हुई है । अतः इसमें 'लाटानुप्रास' अलङ्कार है ॥ २० ॥

अथ कठोरता छटानुप्रासेऽपि ज्ञेयाय । तदाह—

एकत्रपात्रे स्वकलत्रवक्त्रं नेत्रामृतं बिम्बितमीक्षमाणः ।
पश्चात्पपौ सीधुरसं पुरस्तान्ममाद कश्चिद्यदुभूमिपालः ॥ २१ ॥

कश्चिद्यदुभूमिपाल एकत्रपात्रे एकस्मिन्मदिराकचोलके स्वकलत्रवक्त्रं बिम्बितमीक्षमाणः पुरस्तात्प्रथमं ममाद । पश्चात्सीधुरसं मदिरारसं पपौ । अन्यो मद्यं पीत्वा पश्चान्माद्यति । असौ (प्राग्) ममाद । अत्र बहुतरत्रवर्णावृत्तौ सौकुमार्यबाधा । एवमन्येषामपि गुणानां बाधा अनुप्रासरसिकेन कविना रक्ष्या ॥ २१ ॥

(मदिरापान के समय) किसी यदुवंशी राजा ने मधुपात्र में एक ही साथ अमृत के समान नेत्रों को आनन्द देनेवाली अपनी प्रिया के मुख को प्रतिबिम्बित देखा । परिणाम यह हुआ कि उस राजा ने मद्यपान बाद में किया किन्तु मस्त पहले ही हो गया (मदिरा से अधिक मादकता तो प्रिया के मुख में है जिसके दर्शन-मात्र से प्रेमी उन्मत्त हो उठा) ।

टिप्पणी— पूर्वार्द्ध मे 'त्र' और उत्तरार्द्ध में 'प' वर्णों की आवृत्ति से इस श्लोक में 'छेकानुप्रास' अलङ्कार है ॥ २१ ॥

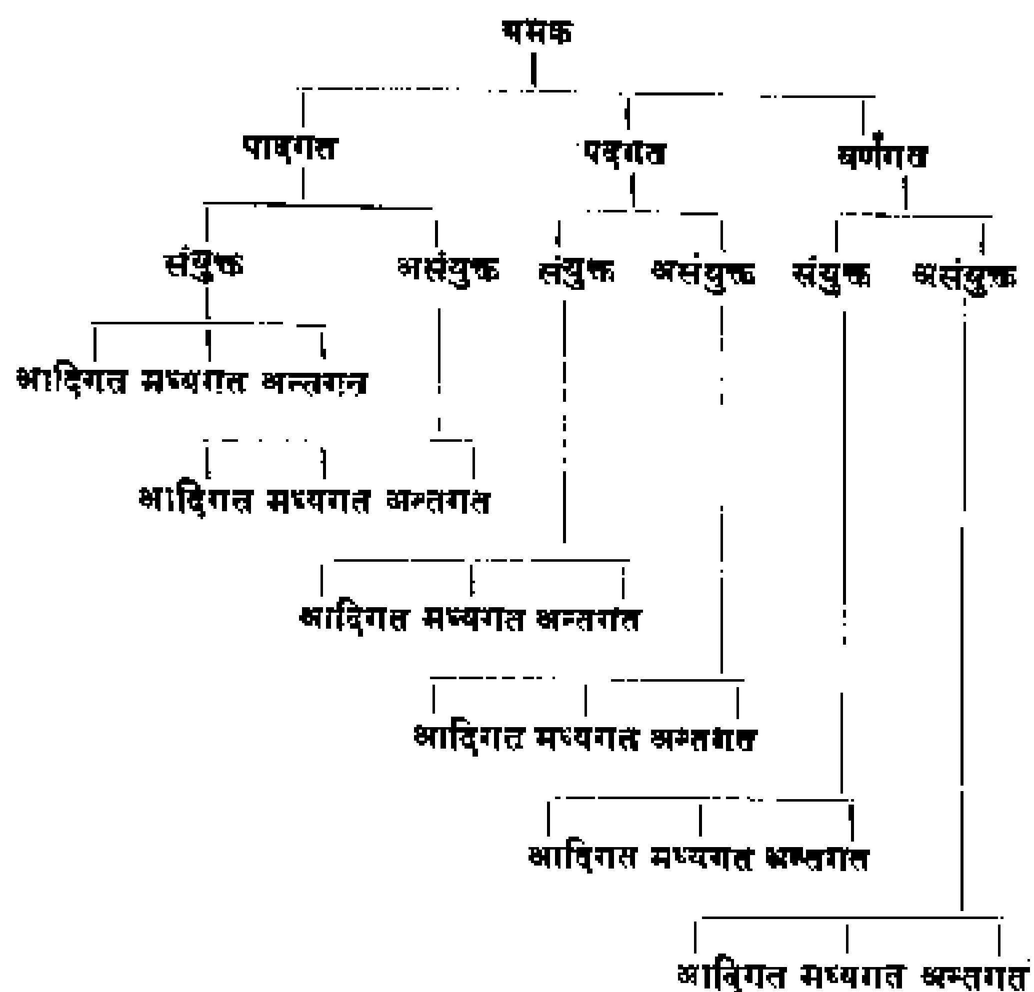
अथ यमकमाह—

स्यात्पादपदवर्णानामावृत्तिः संयुतायुता ।
यमकं भिन्नवाच्यानामादिमध्यान्तगोचरम् ॥ २२ ॥

पादो वृत्तचतुर्थो भागः । पदं विभक्त्यन्तम् । वर्णोऽक्षरम् । अमीषां भिन्नवाच्यानां भिन्नार्थानामावृत्तिः पुनः पुनर्वर्णनं यमकं स्यात् । सा आवृत्तिर्द्विधा—संयुता अयुता च । संयुता अन्तराले अपरपदरहिता । अयुता अन्तरालपदसहिता । तथा संयुतावृत्तौ । तद्यमकं त्रिधा—आदिमध्यान्तगोचरम् आदिगोचरमादियमकम्, मध्यगोचरं मध्ययमकम्, अन्तगोचरमन्तयमकम् । अयुतावृत्तौ त्वन्यथापि व्याख्या । आदिमध्यगोचरम् मध्यान्तगोचरम् । काकाक्षिगोलकन्यायेन मध्यशब्द उभयथापि सम्बध्यते । तथा मध्यस्यान्तोऽर्धान्तपर्यन्त एवोच्यते । तेनाद्यन्तगोचरं यमकं स्यादिति सिद्धम् । आवृत्तिर्यथाशक्ति क्रियते । तेन श्लोकान्तगामिन्यप्यावृत्तिः सम्भवति । विशेषाभावेनैकाकारं चतुष्पदं महायमकमुच्यते इत्यपि सिद्धम् ॥ २२ ॥

भिन्न अर्थवाले पाद, पद और वर्ण की संयुक्त अथवा असंयुक्त रूप से आवृत्ति को यमक कहते हैं । यह (यमक) श्लोक के आदि में हो सकता है, मध्यमें हो सकता है और अन्त में भी हो सकता है ।

टिप्पणी—इस प्रकार 'यमक' के अठारह भेद माने गये हैं । उनकी गणना इस प्रकार से है—



'पाद' श्लोक के चतुर्थांश को कहते हैं, 'पद' विभक्तियुक्त शब्द को कहते हैं क्योंकि पाणिनि का सूत्र है—'सुप्तिङन्तं पदम्' अर्थात् जिसमें सुप् और तिङ् आदि प्रत्ययों से युक्त विभक्ति लगी हो उसे पद कहते हैं । अक्षर को वर्ण कहते हैं ॥

संयुतावृत्तौ पादयमकमाह—

दयां चक्रे दयाञ्चक्रे । सतां तस्माद्भवान्वित्तम् ॥ २३ ॥

हे राजन्, यस्माद्धेतोर्भवान् दयां चक्रे करुणां चकार तस्मात्कारणाद्भवान् सतां साधूनां वित्तं दयाञ्चक्रे दत्तवान् । श्लोकश्छन्दश्चूडामणौ ॥ २३ ॥

आप ने दया की जिससे सज्जनों को द्रव्यदान किया ।

विमर्श—यह 'चूडा' नामक छन्द का पाद है क्योंकि उसमें प्रत्येक पाद चार वर्णों का होता है । अतः 'दयां चक्रे' इस प्रथम (आदि) पाद की आवृत्ति से द्वितीय पाद की रचना की गई है । अतः इसमें 'संयुतावृत्तिमूलक आदि पादयमक' है ॥ २३ ॥

मध्यपादयमकमाह—

यशस्ते समुद्रान्सदा रोरगारेः । सदा रोरगारेः समानाङ्ककान्तेः ॥ २४ ॥

तथा हे राजन्, सदा शोभनं ते यशः समुद्रानारगतम् । कीदृशस्य । उरगारेर्गरुडस्य समानाङ्ककान्तेः । स्वर्णवर्णस्येत्यर्थः । सदा रोरगारेः सदा सर्वदा रोरगा दारिद्र्यं गता अरयो यस्य तस्य रोरगारेः । 'रोरं दारिद्र्यमुच्यते' । सोमराजी छन्दः ॥ २४ ॥

गरुड़ के समान स्वर्णवर्ण की कान्ति वाले एवं वैरियों को दरिद्र बना देने वाले आप का सुयश समुद्र तक गमन करने वाला है ।

टिप्पणी—यह 'सोमराजी' छन्द है, जिसके प्रत्येक पाद में छः वर्ण होते हैं । इसमें द्वितीय और तृतीय पादों की आवृत्ति से 'संयुता-वृत्ति-मूलक मध्यमपाद-यमक' है ॥ २४ ॥

पादान्तयमकमाह—

द्विषामुद्धतानां निहंसि त्वमिन्द्रः । मुदं भो धराणामुदम्भोधराणाम् ॥ २५ ॥

भो राजन्, 'इन्द्रो धराणां पर्वतानां मुदं हर्षं हन्ति । कीदृशानाम् । उदम्भोधराणाम् । तदुपरि अम्भोधरा मेघा येषां तेषाम् । त्वं च उद्धतानां द्विषां मुदं निहंसि । त्वमिन्द्रश्च समानौ एकेनेत्यर्थः । छन्दस्तदेव ॥ २५ ॥

हे इन्द्र ! तुम मेघावलियों से आच्छादित और प्रबल शत्रुरूप पर्वतों के हर्ष को नष्ट करने वाले हो ।

टिप्पणी—यह भी 'सोमराजी' छन्द है । इसमें भिन्नार्थक तृतीय और चतुर्थ (अन्त) पादों की आवृत्ति है । अतः यह 'संयुता-वृत्ति-मूलक अन्तपादयमक' का उदाहरण हुआ ॥ २५ ॥

अथादिमध्यगोचरं मध्यान्तगोचरं यमकमेकवृत्तेनाह—

विभाऽतिरामा परमा रणस्य विभाति रामा परमारणस्य ।
सदैव तेऽजोर्जित राजमान सदैवतेजोर्जितराजमान ॥ २६ ॥

पादद्वयेनादिमध्ययमकम् । अन्त्येनपादद्वयेन मध्यान्तयमकम् । हे अजोर्जित अजो वासुदेवस्तद्वद्बलिष्ठ, हे राजमान शोभमान हे नृप, सदैवतेजोर्जितराजमान सदैवं कर्मसहितं यत्तेजस्तेनार्जितो राजसु भूपेषु मानो महत्त्वं येन स तथा तत्सम्बोधनम् । ते तव रणस्य विभा विभाति । कीदृशी । अतिक्रान्तो रामो दाशरथिर्यया सा । रामा रम्या परमा प्रकृष्टा । कीदृशस्य । परमारणस्य शत्रुघातकस्य ॥ २६ ॥

हे विष्णु के समान पराक्रमशालिन् ! सौभाग्य और तेज से राजाओं के मान को अपहरण करने वाले ! शत्रुसंहारक आपके रण की शोभा ने राम अथवा परशुराम की सेना की शोभा का भी अतिक्रमण कर दिया है; और (सेना की) वह मनोहारिणी आभा सदैव शोभित होती रहती है ।

टिप्पणी—इसमें पृथक्-पृथक् अर्थों को प्रकट करने वाले आदि पाद की आवृत्ति द्वितीय पाद में और तृतीय पाद की आवृत्ति अन्तिम पाद में की गई है। अतः इसमें 'संयुतावृत्तिमूलक आद्यन्तपद यमक' है ॥ २६ ॥

अथायुतावृत्त्यादिमध्यगोचरं यमकमाह—

सारं गवयसान्निध्यराजि काननमग्रतः ।
सारङ्गवयसां निध्यदारुणं शिखरे गिरेः ॥ २७ ॥

हे प्रिय, अग्रतो गिरेः शिखरे सारङ्गवयसां मृगपक्षिणां काननं पश्य। कीदृशम्। निध्यदारुणं निधिभिरदारुणमभीकम्। तथा सारं प्रधानम्। तथा गवयसान्निध्येनारण्यपशुवृन्दनिकटत्वेन राजि शोभमानम् ॥ २७ ॥

अहा! पर्वतशिखर के आगे एक रमणीय वन शोभित हो रहा है जिसमें गायों के सदृश दीर्घकाय पशुओं (नीलगायों) के समूह इधर-उधर पङ्क्तियों में घूम रहे हैं और जो सारंग (मोर) पक्षियों से भरा हुआ है।

टिप्पणी—इसमें आदि पाद की आवृत्ति भिन्नार्थक तृतीय पाद में हुई है जिससे उनके बीच में द्वितीय पाद आ जाने से व्यवच्छेद उत्पन्न हो गया है। अतः यहाँ पर 'अयुतावृत्तिमूलक आदिमध्यपाद यमक' अलङ्कार हुआ ॥ २७ ॥

अमरनगरस्मेराक्षीणां प्रपश्यति स्फुर-
त्सुरतरुचये कुर्वाणानां वलक्षमरंहसम् ।
इह सह सुरैरायान्तीनां नरेश नगेऽन्वहं
सुरतरुचये कुर्वाणानां वलक्षमरं हसम् ॥ २८ ॥

हे वलक्षम, नरेश, इह नगेऽन्वहं नित्यं सुरतरुचये सुरद्रुमगणे बाणानां वृक्षाणां कुर्भूमिरमरनगरस्मेराक्षीणां देवाङ्गनानां रंहसं वेगं प्रपश्यति। रम्या बाणाः, अतो देव्यो वेगेन क्रीडार्थं आयान्तीत्यर्थः। कीदृशीनाम्। स्फुरत्सुरतरुचये सुरतसुखनिमित्तं सुरैः सहायान्तीनाम्। तथाऽरमत्यर्थं वलक्षं धवलं हसं हास्यं कुर्वाणानाम्। अत्र पर्वते कुर्भूमिः शोभते ॥२८॥

हे पराक्रमी राजन्! कल्पतरु से भरे-पूरे इस पर्वत की उस मनोरम भूमि को देखिये जो बाण-वृक्षों से भरी पड़ी है। यह एकान्त किन्तु चित्ताकर्षक स्थान नित्यप्रति देवताओं के साथ स्वर्गलोक से आने वाली सुराङ्गनाओं की संभोगाभिलाषा को उकसा देता है।

टिप्पणी—दूसरे पाद की आवृत्ति चतुर्थ पाद में है, और इन दोनों के बीच में तृतीय पाद आ जाने से यहाँ पर 'अयुतावृत्तिमूलक द्वितीयचतुर्थपाद यमक' अलंकार है ॥ २८ ॥

अथाद्यन्तयमकमाह—

आसन्नदेवा न रराज राजिरुच्चैस्तटानामियमत्र नाद्रौ ।
क्रीडाकुला यत्र दिगन्तनागा आसन्नदे वानरराजराजि ॥ २९ ॥

अत्राद्राविय तटानां राजिः श्रेणिः [न] रराज । अपि तु रराजैव । कीदृशी । आसन्नदेवा समीपस्थसुरा । तथोच्चैरुच्चा । यत्र यस्यां तटराजौ नदे ह्रदे दिगन्तनागा दिग्गजाः क्रीडाकुला आसन् क्रीडाकारिणोऽभवन् । कीदृशे । वानरराजराजि वानरराजा मुख्यवानरास्तै राजतीत्येवंशीलो वानरराजराट् तस्मिन्वानरराजराजि ॥ २९ ॥

इस पर्वत पर ऊँचे ऊँचे शिखरों की जो पङ्क्ति है उस पर देवगण निवास करते थे और श्रेष्ठ वानरों के समूह उस पर क्रीडा करते रहते थे । फिर भला उसकी शोभा कैसे न हो ! वह तो अवश्य ही शोभित होगी । यही नहीं, ये पर्वतशृङ्ग ऐसे थे जिनमें बहनेवाली सरिताओं में दिग्गजों के समान भूधराकार हाथी भी कल्लोल किया करते थे ।

टिप्प०—**इसमें पृथक् अर्थ को प्रकट करनेवाले प्रथम और चतुर्थ पादों की आवृत्ति तो है किन्तु उनके बीच में द्वितीय और तृतीय पाद आ गये हैं । अतः यहाँ 'अयुतावृत्तिमूलक आद्यन्तपद यमक' है ॥ २९ ॥**

श्लोकाभ्यासानुगावृत्तिर्महायमकम्, तदाह—

रम्भारामा कुरबककमलारं भारामा कुरबककमला- ।
रम्भा रामा कुरबक कमलारम्भारामाकुरबककमला ॥ ३० ॥

अत्र पर्वते कुर्भूमिः शोभते इति सम्बन्धः । कीदृशी भूमिः । रम्भारामा रम्भाभिः कदलीभिर्मिश्रा आरामा यस्यां सा तथा । अबककमला अबकं बकारहितं कं पानीयं मलते धारयतीत्यबककमला । तथा अरमत्यर्थं भारामा भैर्नक्षत्रैरारामा कर्बुरेत्यर्थः । तथा—कुरबककमलारम्भा कुरबका वृक्षविशेषाः कमलानि पद्मानि तेषामारम्भा उत्पत्तयो यस्यां सा कुरबककमलारम्भा । तथा रामा रम्या । अथवा—कुरबककमलारम्भारामा कुरबककमलानामारम्भेणोद्गमेन आ ईषद्रामा रमणीया । हे अकुरबक न विद्यते कुत्सितो रवः शब्दो यस्य सोऽकुरवः, अकुरव एवाकुरवकः । शेषाद्वा कः । हे अकुरबक हे कोमलध्वान । नैनैः सम्बोधननाम तत् । पुनः कीदृशी कुः । कमलारम्भारामा, कमला लक्ष्मीः रम्भा अप्सरसः ता एव रामाः स्त्रियो यस्यां सा । गिरिभूमौ रामाः क्रीडार्थमायान्ति । अत्र कमलारम्भा एव रामा ज्ञेयाः । तथा—अकुरबककमला, कुत्सितं राजन्त इति कुरा न कुरा अकुराः शोभमाना बका वृक्षविशेषाः कमला हरिणविशेषाश्च यस्यां सा अकुरबककमला । रम्भारामेत्यत्र श्लोके द्वितीयतृतीयपदयोरन्तरा न यतिः । इदं संशयाय यदि पुनर्महायमकरचाल्पकविना कृतम्, तथापि विलोक्यम् । रम्भाकुरबकेत्यस्य विशेषणतो अथवा सूरिः । हे अकुरबककमल, अत्र पर्वते कुर्भूमिः शोभते । अकुत्सितः शोभनो रवो यस्याश्चिदानन्दादिशब्दवा-

व्यस्वात्। एवंविधा करय छुवस्य कमला यस्य। नेमे: सम्बोधनम्। रम्भारामा तथैव। तथा—अरम्भारामा अर्थः पश्चाद्रत। तथा कुर्भूमिरवककमला तथा रम्भारामा रम्भा एव रामा यस्यां सा रम्भारामा। तथा अकुरवककमला। एवं व्याख्याने पदद्वयस्यान्तरं भवति। 'म्भौ म्नौ गः ...निर्ज्ञसितम्' छन्दः॥ ३०॥

हे रक्षक! कदलीवन की यह भूमि अत्यन्त रमणीक है, क्योंकि उसमें कमलों का समूह है, सुन्दर कुरवकवृक्षों का कुञ्ज है, मनोहारिणी सुन्दरियाँ हैं; बकपङ्क्ति से रहित निर्मल एवं रमणीक जलराशि है और है मनोहर शब्द करनेवाला हरिण-यूथ भी।

टिप्पणी—**इस श्लोक में प्रथम पाद की आवृत्ति द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ पाद में है। अतएव यह 'महायमक' का उदाहरण है॥ ३०॥**

इदानीं तेनैव प्रकारेण पदयमकोदाहरणानि। तत्र संयुतावृत्तौ आदिपदयमकमाह—

हारीतहारी ततमेष धत्ते सेवालसेवालसहंसमम्भः।
जम्बालजं बालमलं दधानं मन्दारमन्दारववायुरद्रिः॥ ३१॥

एषोऽद्रिस्ततं विस्तीर्णमम्भो धत्ते। कीदृशोऽद्रिः। हारीतहारी, हारीताः पक्षिणस्तैर्हारी मनोहरः। तथा मन्दारमन्दारववायुः, मन्दारेषु कल्पवृक्षेषु मन्दारवो मन्दशब्दो वायुर्यस्य सः। सुरभिवायुरद्रावस्तीत्यर्थः। कीदृशम्। सेवालसेवालसहंसम्, सेवालसेवायामलसा राजहंसा यत्राम्भसि तत्तथा। अलमत्यर्थं बालं नूतनं जम्बालजं कमलं दधानम्॥ ३१॥

हारीत पक्षियों के समूह से भरा हुआ यह पर्वत अत्यन्त रमणीक है क्योंकि इसके ऊपर मन्दारवृक्षों से निकला हुआ मन्द-मन्द वायु चल रहा है और इस पर्वत पर शैवाल के कारण अलसित हंससमूह से परिपूर्ण और कीचड़ से उत्पन्न निर्मल जलराशि (प्रपात आदि) शोभित हो रहे हैं।

टिप्पणी—**इस श्लोक में आदि पद 'हारीत' की निर्विघ्न आवृत्ति से 'संयुता-वृत्तिमूलक आदिपदयमक' अलङ्कार है॥ ३१॥**

नेमिर्विशालनयनो नयनोदितश्रीरभ्रान्तबुद्धिविभवो विभवोऽथ भूयः।
प्राप्तस्तदाजनगराज्ञगराजि तत्र सूतेन चारु जगदे जगदेकनाथः॥ ३२॥

सूतेन सारथिना जगदेकनाथो नेमिश्चारु यथा भवति तथा जगदे। कीदृशः। नयनो-दितश्रीः नयेन न्यायेनोदिता प्रेरिता श्रीर्यस्य सः। न्यायाधिकशोभ इत्यर्थः। तथा अभ्रान्तः सत्यो बुद्धिरूपो विभवो यस्य स तथा। विगतो भवो यस्य स तथा। तदाजनगरात् नारायण-पुरात् नगराजि गिरीश्वरे रैवतके प्राप्तः॥ ३२॥

संसार के एक मात्र स्वामी दीर्घनयन स्वामी नेमिनाथ जी, जिन्होंने अपनी नीति से धनोपार्जन किया और जिनका ऐश्वर्य सदैव स्थिर रहनेवाला है तथा

जो जन्म-मरण आदि से युक्त संसारचक्र से परे हैं वे जब सारथी द्वारा नगर से पर्वत पर ले जाये गये तो सारथी ने उनसे बार-बार सुन्दर वचनों में कहा।

टिप्पणी—'नयनो', 'जगदे', और 'विभवो' आदि मध्य पदों की व्यवधान-रहित आवृत्ति से इस श्लोक में 'संयुतावृत्तिमूलक मध्यमपदयमक' है ॥ ३२ ॥

अन्तयमकमाह—

यदुपान्तिकेषु सरलाः सरला यदनूच्चलन्ति हरिणा हरिणा ।
तदिदं विभाति कमलं कमलं मुदमेत्य यत्र परमाप रमा ॥ ३३ ॥

यदुपान्तिकेषु यस्य जलस्योपान्तिकेषु पार्श्वेषु सरला अवक्राः सरला देवदारवो वर्तन्ते । यज्जलमनुलक्षीकृत्य हरिणा मृगा हरिणा वायुना सहोच्चलन्ति । कमलस्यार्थं सदिदं कं जलं विभाति । यत्र जले रमा लक्ष्मीः कमलेऽपि परं स्थानं मुदमाप ॥ ३४ ॥

अहा! कितनी मनोहारिणी है यह जलराशि !! इसके किनारे पर सीधे-सीधे धूप (काष्ठविशेष) के वृक्ष खड़े हुए हैं, यहाँ हरिण वायु के समान तीव्र वेग से दौड़ते हैं और यहीं पर लक्ष्मी भी कमलों में स्थान पाकर हर्षोल्लास से भर जाती है।

टिप्पणी—'सरला', 'हरिणा', और 'परमा' आदि अन्त्य पदों की आवृत्ति से यहाँ पर 'संयुतावृत्तिमूलक अन्तपदयमक' अलङ्कार है ॥ ३३ ॥

आदियमकमाह—

कान्तारभूमौ पिककामिनीनां कां तारवाचं क्षमते स्म सोढुम् ।
कान्ता रतेशेऽध्वनि वर्तमाने कान्तारविन्दस्य मधोः प्रवेशे ॥ ३४ ॥

कान्ता भार्या रतेशे भर्तरि अध्वनि पथि वर्तमाने । विदेशस्थे सतीत्यर्थः । मधोर्वसन्तस्य प्रवेशे कान्तारभूमौ पिककामिनीनां कां कां तारवाचं विस्तारिणीं वाणीं सोढुं क्षमते स्म । अपि तु कामपि न क्षमते स्म । कीदृशस्य मधोः । कान्तारविन्दस्य कमनीयपद्मस्य ॥ ३४ ॥

जब किसी सुन्दरी का पति परदेश में हो (उसके पास न हो), चैत्रमास कमल और वसन्तादि उद्दीपक उपकरणों से सजकर आ जाय तो वह बेचारी वन-प्रदेश में कलकूजन करनेवाली कोकिला की कौन-सी ऊँची तान को सुन सकने में समर्थ हो सकती है? (वह तो विरह से तड़प उठेगी)।

टिप्पणी—इस श्लोक के चारों पादों के आदि में 'कान्तार' पद की आवृत्ति है और ये सभी पद एक दूसरे से दूर हैं। अतः यह 'अयुतावृत्तिमूलक आदि-पदयमक' का उदाहरण है ॥ ३४ ॥

मध्ययमकमाह—

चकार साहसं युद्धे धृतोल्लासा हसं च या ।
दैन्यं त्वां साह सम्प्राप्ता द्विषां सोत्साह सन्ततिः ॥ ३५ ॥

हे सोत्साह हे सोद्यम हे श्रीनेमे, या द्विषां सन्ततिः शत्रूणां श्रेणिर्युद्धे साहसं चकार। धृतोल्लासा च सती हसं हास्यं चकार। अपरान्प्राप्येत्यध्याहार्यम्। सा द्विषां संततिः त्वां सम्प्राप्ता सती दैन्यं चकारेत्यर्थः। अथवा दैन्यं सम्प्राप्ता सती त्वामाह। त्वद्गती दीनवाक्यान्यभाषिष्टेत्यर्थः॥ ३५॥

हे उत्साही राजन्! शत्रुओं की जो सेना उत्साह का प्रदर्शन किया करती थी और (विजयोल्लास से) हँसा करती थी, वह (शत्रु-सेना) जब तुम्हारे सामने पड़ी तो अत्यन्त दीन हो गयी।

टिप्पणी—इस श्लोक के प्रत्येक चरण के मध्य में रहने वाले पृथक् पृथक् 'साहसं' पद की बार बार आवृत्ति होने से 'अयुतावृत्तिमूलक मध्यमपदयमक' अलङ्कार है॥ ३५॥

अन्तयमकमाह—

गिरां श्रूयते कोकिला कोविदाऽरं यतस्तद्वनं विस्फुरत्कोविदारम्।
मुनीनां वसत्यत्र लोको विदारं न च व्याधचक्रं कुतोऽको विदारम्॥ ३६॥

गिरां विषये वचनकोमलताविषये अरमत्यर्थं कोविदा पण्डिता। यतो यस्मात्कारणात्कोकिला श्रूयते तत्तस्मात्तद्वनं वर्तते। कीदृशम्। विस्फुरत्कोविदारं विस्फुरन्तो सल्लसायमानाः कोविदाराः काञ्चनारवृक्षा येन तद्। अत्र वने मुनीनां लोको मुनिजनो विदारं विगतकलत्रं यथा भवति तथा वसति। दाररहितो मुनिजनस्तपसे वसतीत्यर्थः। अत्र वने व्याधचक्रमाखेटकृत्समूहः कुतोऽको विद्विलगोऽपि न वर्तते। कीदृशम्। विदारं वीन्पक्षिणो दृणाति दारयति वा विदारम्। यतः कोकिला श्रूयते तत एतद्वनं किमपि वर्तते इति कोऽपि कस्यापि कथयामासेत्युक्तिलेशः॥ ३६॥

कचनार के वृक्षों से भरे हुए इस वन में अहिंसा का साम्राज्य है। इस वन में मधुरभाषी कोकिलायें कलकूजन करती हैं; स्त्री और परिवार से विहीन मुनिजन इसमें निवास करते हैं और पक्षियों की हिंसा करने वाले व्याधादि दुष्टों से यह वन बिलकुल विहीन है।

टिप्पणी—चरण के अन्त में आने वाले 'विदार' पद की बार बार आवृत्ति होने से यहाँ पर 'अयुतावृत्तिमूलक अन्तपदयमक' अलङ्कार है॥ ३६॥

अतः पादद्वयेऽपि आदिमध्यमध्यान्तयमकान्युदाह्रियन्ते—

सिन्धुरोचितलताप्रसक्तकीसिन्धुरोचितमुपेत्य किन्नरैः।
कन्दराजितमदस्तटं गिरेः कन्दराजितगृहश्रि गीयते॥ ३७॥

किन्नरैर्गिरेरदः शिखरमुपेत्य गीयते। कीदृशं शिखरम्। सिन्धुरोचितलताप्रसक्तकीसिन्धुरोचितं सिन्धुराणां गजानामुचिता योग्या लताप्याः सल्लक्यश्च ताभिर्युताः सिन्धवो नद-

स्तामी रोचितं शोभितम्। तथा—कन्दराजितं कन्दैः शोभितम्। तथा—कन्दराजितगृहश्रि कन्दराभिर्जिता गृहशोभा येन शिखरेण तत्। इदं पादद्वये आदियमकं कथितम् ॥ ३७ ॥

हाथियों के योग्य लता और सल्लकी वृक्षों से घिरी सिन्धु नदी से युक्त, कन्दमूलादि से शोभित सुन्दर-सुन्दर घरों की शोभा को भी परास्त कर देने वाली गुफाओं से पर्वत के समीप आकर किन्नरसमूह गान किया करते हैं।

टिप्पणी—'सिन्धुरोचित' और 'कन्दराजित' पद्यार्द्धगत पदों की दूर-दूर आवृत्ति होने से यहाँ पर 'अयुतावृत्तिमूलक पद्यार्द्धगतपदयमक' अलङ्कार है ॥ ३७ ॥

पादद्वयमध्ययमकं यथा—

वसन्सरोगोऽत्र जनो न कश्चित्परं सरोगो यदि राजहंसः।
गीतं कलं को न करोति सिद्धः शैले कलङ्कोज्झितकाननेऽस्मिन् ॥३८॥

अत्र शैले कलङ्कोज्झितकानने निर्दोषे वने वसन् सन् जनो लोकः कश्चित् सरोगो न सव्याधिः। परं यदि सरोगः सरोवरगतो राजहंस इत्यर्थः। अत्र शैले कः सिद्धः किन्नरः कलं मनोज्ञं गीतं न करोति। अपि तु सर्वोऽपि करोतीत्यर्थः ॥ ३८ ॥

हिंसादि दोषों से मुक्त वनवाले इस पर्वत पर कौन सिद्ध पुरुष कलगान नहीं करता है! (सिद्धजन यहाँ पर वेदादि का गान किया ही करते हैं) इस पर्वत पर निवास करनेवाला कोई भी व्यक्ति रुग्ण नहीं है (अर्थात् यह पर्वत-प्रदेश स्वास्थ्यवर्द्धक है); किन्तु यहाँ पर रहने वाला राजहंस अवश्य ही सरोवर के समीप जाया करता है (इससे स्पष्ट है कि पर्वत पर सरोवर भी है)

टिप्पणी—इस श्लोक के प्रथम दो चरणों में मध्यगतपद 'सरोग' की आवृत्ति है और बाद के दो चरणों में 'कलङ्क' पद की। ये पद आवृत्त पदों से दूर हैं। अतः इसमें 'अयुतावृत्तिमूलक प्रत्यर्द्धभागभिन्नपादमध्यगतपदयमक' अलङ्कार है ॥ ३८ ॥

पादद्वयान्त्ययमकं यथा—

जहुर्वसन्ते सरसीं न वारणा बभुः पिकानां मधुरा नवा रणाः।
रसं न का मोहनकोविदा रकं विलोकयन्ती बकुलान्विदारकम् ॥ ३९ ॥

वारणा गजेन्द्रा वसन्तमासे सरसीं महासरोवरं न जहुर्नात्याक्षुः। पिकानां कोकिलानां नवा मधुरा रणाः शब्दा वसन्ते बभुः। का च स्त्री मोहनकोविदा सुरतपण्डिता बकुलान्वृक्षविशेषान्विलोकयन्ती कं रसं नाप। अपि तु सर्वमपि रसं प्रापैव। कथं विदारकं निष्पुत्रं यथा भवति तथा। निष्पुत्रायाः संभोगक्षमत्वात् ॥ ३९ ॥

वसन्त ऋतु में हाथियों ने सरोवरों को नहीं छोड़ा, कोकिल-कूजन ने नवीन शोभा को धारण किया, किस कामशास्त्र-प्रवीणा नायिका ने मौलश्री के वृक्षों को देखकर विरह-व्यथा का अनुभव नहीं किया अथवा किस कामातुरा नायिका ने अपने पति-प्रेम का आनन्द नहीं लूटा!

टिप्पणी—पूर्वार्द्धगत 'मधारणा' और उत्तरार्द्धगत 'विद्यारकम्' अन्त्यगत पदों की आवृत्ति से यहाँ 'अयुतावृत्तिमूलक प्रथमभागभिन्नपादान्त्यगतपद यमक' है ॥ ३९॥

आद्यन्तयमकं यथा—

वरणाः प्रसूननिकरावरणा मलिनां वहन्ति पटलीमलिनाम्।
तरवः सदात्र शिखिजातरवः सरसश्च भाति निकटे सरसः॥ ४०॥

अत्र गिरौ सदा वरणास्तरवो वरणा वृक्षविशेषा अलीनां भ्रमराणां मलिनां नीलां पटलीं श्रेणिं वहन्ति। कीदृशाः। प्रसूननिकरावरणाः प्रसूननिकरा एव पुष्पसमूहा एवावरणमाच्छादनं येषां ते तथा। अत्राद्रौ शिखिजातरवो मयूरजातध्वनिश्च सरसो निकटे तडाकस्यान्तिके सरसो मधुरो भाति॥ ४०॥

पुष्पराशिमण्डित वरणों के वृक्ष भ्रमरों की मलिन पंक्ति को धारण किये हुये हैं और सरोवर के निकट मयूरों का कलाप सदैव मधुर ध्वनि उत्पन्न करता रहता है।

टिप्पणी—'वरणाः', 'मलिनां', 'तरवः' और 'सरसः' पद इस श्लोक के क्रमशः प्रत्येक पद के आदि और अन्त में प्रयुक्त हुए हैं। अतः यहाँ पर 'अयुतावृत्तिमूलक प्रतिपादगत आद्यन्तपद यमक' अलंकार है॥ ४०॥

द्वितीयपादचतुर्थपादान्तयमकमाह—

यथा यथा द्विजिह्वस्य विभवः स्यान्महत्तमः।
तथा तथास्य जायेत स्पर्धयेव महत्तमः॥ ४१॥

द्विजिह्वस्य दुर्जनस्य यथा यथा विभवः स्याद्धनं भवेत्। कीदृशो विभवः। प्रकृष्टो महान् महत्तमः। बहुतर इत्यर्थः। तथा तथास्य दुर्जनस्य महत् घनं तमः पापं स्पर्धयेव जायेत॥४१॥

जैसे जैसे दुर्जन का ऐश्वर्य वृद्धि को प्राप्त होता जाता है वैसे वैसे ही स्पर्द्धा के कारण उसमें अत्यन्त मोह का भी प्रादुर्भाव होता जाता है।

टिप्पणी—इस श्लोक के दोनों चरणों के अन्त में 'महत्तमः' पद की आवृत्ति है। अतः यह 'अयुतावृत्तिमूलक पश्चार्द्धान्त्यभागगतपदयमक' का उदाहरण है॥

संयुतासंयुतावृत्ती यमकमाह—

दास्यति दास्यतिकोपादास्यति सति कर्कराञ्शापम्।
भवति भवति ह्यनर्थो भव तिमितस्तेन वटुक त्वम्॥ ४२॥

हे वटुक, भवति त्वयि आसमन्तात्कर्करानस्यति क्षिपति सति दासी अतिकोपाच्छापं दास्यति। हि यस्मात्कारणादनर्थो भवति। ततस्त्वं तिमितो भव स्थिरो भव चापलं मा कृथाः॥ ४२॥

रे बालक ! तेरे कंकड़ों के फेंकने से हमारी गुहा [illegible] टूट जाए तो मेरी जिससे महान् अनर्थ हो जायगा। अतः तू चुपचाप बैठ।

टिप्पणी—'दास्यसि' और 'भवति' पद क्रमशः दोनों पादों में साथ साथ तो आवृत्त हुए ही हैं, इसके अतिरिक्त प्रथम पाद में 'कोप' शब्द से व्यवच्छिन्न 'दास्यसि' और द्वितीय पाद में 'अनर्थो' शब्द से व्यवच्छिन्न 'भवति' शब्द की भी आवृत्ति हुई है। अतः यहाँ एक ही पद्य में संयुतावृत्तिमूलक और असंयुतावृत्तिमूलक पाद के आदि में पदयमक का उदाहरण है॥ ४२॥

कुलं तिमिभयादत्र करेणूनां न दीव्यति।
न दीव्यति करेणूनां प्राणिनां गणनापि का॥ ४३॥

अत्र नदीसमीपे करेणूनां कुलं तिमिभयान्मत्स्यभयान्न दीव्यति न क्रीडति। अणूनां सूक्ष्माणां प्राणिनां गणनापि का॥ ४३॥

नदी के सङ्गम में बड़े-बड़े मत्स्यों के भय के कारण हस्तिसमूह भी क्रीडा नहीं कर सकता है तो भला क्षुद्र जन्तुओं की गणना ही क्या।

टिप्पणी—द्वितीय पादगत 'न दीव्यति' और 'करेणूनां' पदों की आवृत्ति तृतीय पाद में भी हुई है। अतः यहाँ संयुतावृत्तिमूलक पादमध्यगत पद-यमक माना गया है॥ ४३॥

इदानीं वर्णावृत्तिरुदाह्रियते—

गङ्गाम्बुधवलाङ्गाभो मुमुक्षुध्यानतत्परः।
पापार्तिहरणायास्तु स सज्ज्ञानो जिनः सताम्॥ ४४॥

गङ्गाजलवद्धवला अङ्गस्याभा कान्तिर्यस्य स तथा। मुमुक्षूणां ध्यानस्य गोचरः। अत्र पादे पादे आदौ वर्णद्वयद्वयसादृश्याद्वर्णयमकमुच्यते॥ ४४॥

गङ्गाजल के समान धवल अंग से शोभित, मोक्षार्थियों के ध्यान में आने वाले, सद्ज्ञान से युक्त जिन भगवान् सज्जनों के पाप और क्लेश के निवारण करने वाले हैं।

टिप्पणी—'गां गा', 'मुमु' और 'स स' वर्णों की आवृत्ति से यहाँ 'वर्णयमक' माना गया है॥ ४४॥

असंयुतावृत्तौ वर्णयमकमाह—

जगदात्मकीर्तिशुभ्रं जनयन्नुद्दामधामदोःपरिघः।
जयति प्रतापपूषा जयसिंहः क्ष्माभृदधिनाथः॥ ४५॥

उद्दामावनिवारो धाम तेजस्तद्युक्तौ भुजरूपौ परिघौ यस्य सः। अधिको नाथोऽधिनाथः। अत्र प्रतिपादं जवर्णादसंयुतावृत्तौ यमकम्। वर्णावृत्तिः पूर्ववद्भेदा द्रष्टव्याः॥ ४५॥

वे राजाधिराज जयसिंह जिनका प्रताप सूर्य के समान दूसरों (वैरियों) को तप्त करने वाला है, जो उत्कट तेजराशि वाले हैं और जिनकी भुजायें अर्गला के समान दीर्घकाय एवं बलिष्ठ हैं, संसार में अपनी शुभ्र कीर्ति को फैलाते हुए जय को प्राप्त हों।

टिप्पणी—यहाँ पर चारों पादों में 'ज' वर्ण की आवृत्ति दूर दूर होने से अयुतावृत्तिमूलक वर्णयमक है ॥ ४५ ॥

संयुतासंयुतावृत्तिर्यथा—

> मामाकारयते रामा सा सा मुदितमानसा ।
> या या मदारुणच्छाया नानाहेलामयानना ॥ ४६ ॥

सा सा रामा मामाकारयते आह्वयति । या या मदारुणच्छाया मदेनारुणा आरक्ता छाया शोभा यस्याः सा मदारुणच्छाया । या या मुदितमानसा हृष्टचित्ता च । तथा नानाहेलामयानना नानाविधमनेकप्रकारं हेलामयं लीलामयमाननं यस्याः सा । अत्र मामा सा सा इत्यादि संयुतायमकम् । पादान्ते च मासेत्याद्ययुतायमकम् । समासाश्चत्वारोऽपि शब्दालङ्काराः ॥ ४६ ॥

जो जो नायिका मदिरापान से रक्तिम आभावाली और नाना प्रकार के हाव-भावों का प्रदर्शन करने वाली हो जाती है वही आनन्द से मुझको पुकार उठती है।

टिप्पणी—यहाँ पर 'मा', 'सा', 'या' और 'ना' वर्णों की आवृत्ति पास पास और दूर दूर होने से संयुत और अयुत दोनों प्रकार के वर्णयमक का उदाहरण है ॥४६॥

अथार्थालङ्कारा उच्यन्ते—

> स्वभावोक्तिः पदार्थस्य सक्रियस्याक्रियस्य वा ।
> जातिर्विशेषतो रम्या हीनत्रस्तार्भकादिषु ॥ ४७ ॥

पदार्थस्य सक्रियस्य क्रियासहितस्य अक्रियस्य वा क्रियारहितस्य वा स्वभावोक्तिर्या सा जातिरुच्यते । हीनत्रस्तार्भकादिषु स्वभावोक्तिः सहजकथनं विशेषतः सा जातिरुच्यते । हीनो हीनस्त्रस्तो भीतः, अर्भका बालकाः, इत्यादिषु स्वभावोक्तिर्विशेषतो रम्या जातिः । कोऽर्थः । यस्य पदार्थस्य यादृशः स्वभावस्तस्यैव स्वभावस्य यत्कथनं सा जातिरवगन्तव्या । हीने हीनस्वभाववर्णनम्, त्रस्ते त्रस्तलक्षणम् । अर्भकादिषु तान्येव लक्षणानि वर्ण्यन्ते । न तु उपमाद्यलङ्कारेणार्थपर्यायानयनं क्रियते सा जातिरिति ॥ ४७ ॥

चेतन अथवा जड़ पदार्थों के स्वभाव-कथन को जाति कहते हैं, इसी का दूसरा नाम स्वभावोक्ति-अलङ्कार है। यह अलङ्कार क्षुद्र वस्तुओं और बालकों में विशेष शोभा को प्राप्त होता है ॥ ४७ ॥

उदाहरणमाह—

बर्हावलीबहुलकान्तिरुचो विचित्रभूर्जत्वचा रचितचारुदुकूललीलाः ।
गुञ्जाफलग्रथितहारलताः सहेलं खेलन्ति खेलगतयोऽत्र वने शबर्यः ॥४८॥

खेलगतयः सविलासगतयः शबर्योऽत्र वने सहेलं सलीलं खेलन्ति दीव्यन्ति । बर्हावलीभिर्मयूरपिच्छश्रेणिभिर्बहुला महीया कान्तिस्तया रोचन्ते यास्तास्तथा । शेषं सुगमम् । अत्र शबरीणां हीनजातीनामरण्यादिवर्णना । सक्रियोदाहरणमिदम् । खेलन्तीति क्रिया ॥ ४८ ॥

इस वन में मयूरपिच्छों से बनी हुई मेखला से सुशोभित, बल्कलादि से युक्त, रेशमी वस्त्रों को धारण करने वाली और गुञ्जाफलों से मालाओं को गूँथने वाली भीलनियाँ विलास-क्रीडा में मग्न हैं ।

टिप्पणी—**यहाँ हीनजाति भीलनियों के स्वभाव का वर्णन किया गया है । इसी से इस श्लोक में 'स्वभावोक्ति' अलङ्कार है ॥ ४८ ॥**

अक्रियोदाहरणमाह—

आरत्तणित्तघोरणिभीसणवअणुक्करो कुरङ्गच्छि ।
उल्लसिअवीसभुअवणविणिवेसो दसमुहो एसो ॥ ४९ ॥

[आरक्तनेत्रश्रेणिभीषणवदनोत्करो कुरङ्गाक्षि ।
उल्लसितविंशतिभुजवनविनिवेशो दशमुख एषः ॥]

हे कुरङ्गाक्षि, एष दशमुखो रावणः । कीदृशः । आरक्तनेत्रश्रेणिभीषणवदनोत्करः उल्लसितविंशतिभुजवनविनिवेशः उल्लसितं विंशतिभुजा एव वनं काननं तस्य विनिवेशः स्थानम् । अत्रापि यादृशो रावणस्तादृश एवोक्तत्वात्स्वभावोक्तिः । एषा जातिः । मस्ते स्वमुदाहृतम् । यथा वा—

'यमालोक्य स्वप्ने करकलितनिस्त्रिंशफलकं भयाद्भ्रागुन्निद्राः कृतनिजबलाह्वानविधयः ।
भुजामध्यात्बुद्धेः किमिदमिति दारैरभिहिताः कति व्रीडामौनव्रतमिह न भेजुः क्षितिभुजः ॥'

अर्भके यथा—

'शिक्षया प्रणमन्वृद्धांस्तदाशिषमनुस्मरन् ।
निजच्छायासमाक्लिष्टं धावन्क्रीडति बालकः ॥'

आदिशब्दान्मत्तकुपितादिष्वेवमुदाहार्यम् ॥ ४९ ॥

हे मृगनयनि ! यह रावण बड़ा भयानक है, क्योंकि रक्तवर्ण नेत्रों से युक्त इसके दस भीषण मुख हैं और इसकी उठी हुई बीस भुजायें वृक्षसमूह के समान हैं ।

टिप्पणी—**इसमें रावण के स्वभाव-कथन से स्वभावोक्ति अलंकार है ॥ ४९ ॥**

संप्रत्युपमामाह—

उपमानेन सादृश्यमुपमेयस्य यत्र सा ।
प्रत्ययाव्ययतुल्यार्थसमासैरुपमा मता ॥ ५० ॥

यत्रोपमेयस्य मुख्यवस्तुनोपमानेन दृष्टान्तेन सादृश्यं समानता। सादृश्यं द्विधा—अभिधीयमानं प्रतीयमानं च। सा प्रत्ययाव्ययतुल्यार्थसमासैर्वक्ष्यमाणैरुपमोक्ता विशेषानुपादानात् ॥ ५० ॥

जहाँ 'वति' आदि प्रत्यय, 'इव' आदि अव्यय, 'तुल्य' आदि शब्द और 'कर्मधारय' आदि समासों के प्रयोग से अप्रस्तुत (उपमान) के साथ प्रस्तुत (उपमेय) में सादृश्य दिखाया जाता है वहाँ उपमालंकार होता है।

टिप्पणी—साधारणतया उपमा में 'उपमेय', 'उपमान', 'उपमावाचक शब्द' और 'समानधर्म' ये चार अङ्ग होते हैं। जिस उपमा में ये चारों अङ्ग उपस्थित रहते हैं, उसे 'पूर्णोपमा' कहते हैं और जिसमें उपर्युक्त चार अङ्गों में से किसी एक अथवा एक से अधिक अङ्गों का लोप रहता है उसे 'लुप्तोपमा' कहते हैं ॥ ५० ॥

तत्राभिधीयमानसादृश्ये उदाहरणमाह—

गत्या विभ्रममन्दया प्रतिपदं या राजहंसायते
यस्याः पूर्णमृगाङ्कमण्डलमिव श्रीमत्सदैवाननम् ।
यस्याश्चानुकरोति नेत्रयुगलं नीलोत्पलानि श्रिया
तां कुन्दार्हदतीं त्यजञ्जिनपती राजीमतीं पातु वः ॥ ५१ ॥

या राजीमती विभ्रममन्दया गत्या प्रतिपदं राजहंस इवाचरति राजहंसायते। अत्र प्रत्ययेनोपमा। यस्या आननं पूर्णमृगाङ्कमण्डलमिव श्रीमत्। श्रीर्लक्ष्मीः शोभा वा। अत्रेवशब्देनाव्ययेनोपमा। यस्या राजीमत्या नेत्रद्वयं श्रिया नीलोत्पलान्यनुकरोति। अत्रानुकरोतिक्रियातुल्यार्थवाचिका ततस्तुल्यार्थेनोपमा। तथा। कुन्दानर्हन्ति कुन्दार्हाः दन्ता यस्याः सा तां कुन्दार्हदतीम्। कुन्दसमानरदनामित्यर्थः। अत्र बहुव्रीहिसमासेनोपमा। अत्र प्रत्ययाव्ययतुल्यार्थभेदैश्चतुर्भेदोपमायां गत्यादिसादृश्यमभिधीयमानमस्ति। नास्ति गम्यं बलात्कारेण किमपि। राजहंसायते गत्या, नेत्रयुगलमनुकरोति श्रिया, इत्यादिकानि सर्वाणि काव्यमध्ये एवाभिहितानि सन्तीतीदमभिधीयमानमुच्यते। यत्र कारणानि काव्यमध्ये नोक्तानि, किंतु स्वयमेवानुमानेन ज्ञायन्ते तत्प्रतीयमानमुच्यते ॥ ५१ ॥

कामातुरा होने के कारण हंस की भाँति मन्द-मन्थर गति से चलने वाली, चन्द्रमा के समान मुख की कान्ति वाली, अपने नेत्रों की शोभा से कमलदलों की शोभा का अनुकरण करने वाली और कुन्दकली के समान दाँतों वाली राजीमती का त्याग कर देने वाले जिनपति नेमिनाथजी आप लोगों की रक्षा करें।

टिप्पणी—इस श्लोक के प्रथम चरण में राजीमती उपमेय, राजहंस उपमान, मंदगति समानधर्म और 'हंसायते' में जो क्यङ् प्रत्यय है वह उपमावाचक शब्द है क्योंकि 'इवार्थे क्यङ्प्रत्ययः'—इस नियम से क्यङ् प्रत्यय से 'इव' शब्द का बोध होता है। अतएव प्रथम चरण में पूर्णोपमा है। दूसरे चरण मे राजीमती का मुख उपमेय, चन्द्रमण्डल उपमान, 'इव' उपमावाचक शब्द और 'श्रीमत्' समानधर्म है। अतः यहाँ भी पूर्णोपमा हुई। तृतीय चरण में राजीमती के नेत्रयुगल उपमेय, नीलकमल उपमान और कान्ति समान धर्म है किन्तु उपमा-वाचक शब्द के अभाव में यहाँ लुप्तोपमा है। चतुर्थ चरण में राजीमती के दाँत उपमेय और कुन्दकली उपमान है। यहाँ पर न तो कोई समान धर्म है और न उपमा-वाचक शब्द ही। अतः इस चरण में भी 'लुप्तोपमा' है ॥ ५१ ॥

प्रतीयमानोदाहरणं यथा—

चन्द्रवद्वदनं तस्या नेत्रे नीलोत्पले इव ।
पक्वबिम्बं हसत्योष्ठः पुष्पधन्वधनुर्भ्रुवौ ॥ ५२ ॥

यस्या राजीमत्या वदनं चन्द्रवत्। नेत्रे नीलोत्पले इव वर्तेते। ओष्ठः पक्वबिम्बं हसति। यस्या भ्रुवौ पुष्पधन्वधनुः पुष्पधन्वा कामदेवस्तस्य धनुः। अत्र तावत्केन गुणेन मुखं चन्द्रवत्स गुणो नोक्तः। ओष्ठः पक्वबिम्बं केन हसति स गुणः स्वमत्या अवतार्यः। अत एव तत्प्रतीयमानमुच्यते। अत्र चतुर्षु प्रत्ययाव्ययतुल्यार्थसमासोपमाः क्रमाज्ज्ञेयाः। इत्यादि सर्वत्रावगन्तव्यम् ॥ ५२ ॥

वह रमणी भी कितनी मनोहारिणी है जिसका मुख चन्द्रमा के समान है, जिसके नेत्र नीलकमल के समान हैं, जिसके ओठों का हास पके हुए बिम्ब फल की भाँति लाल है और जिसका भ्रूचाप ! वह तो साक्षात् कामदेव के धनुष की भाँति कामियों के हृदय को बेधनेवाला है।

टिप्पणी—इस श्लोक के प्रथम दो चरणों में समानधर्म का अभाव है और बाद के दो चरणों में न तो उपमा-वाचक शब्द ही है और न समानधर्म ही अतः यहाँ भी 'लुप्तोपमा' है ॥ ५२ ॥

मअभरिअमाणसस्स वि णिच्चं दोसाअरस्स सणिण व्व ।
तुह विरहे तीइ मुहं संकुइअं सुहअ कुमुअं च ॥ ५३ ॥

[मदभरितमानसस्यापि नित्यं दोषाकरस्य शशिन इव ।
तव विरहे तस्या मुखं संकुचितं सुभग कुमुदं च ॥]

हे सुभग, तव विरहे तस्या मुखं संकुचितम्। यथा—शशिनो विरहे कुमुदं संकोचं प्राप्नोति। कीदृशस्य दोषाकरस्य। उभयोर्विशेषणमेतत्। यथा—मदभरितमानसस्यापि।

चन्द्रपक्षे—मृगमरिसमानसस्यापि । मानसमत्र मध्यं शेयम् । शशिन इवेति द्रव्योपमा । कुमुदं संकुचितमिति क्रियोपमा ॥ ५३ ॥

हे सौभाग्यशालिन् ! गर्व से भरे हुए और दोषों से युक्त होने पर भी तेरे विरह में वियोगिनी नायिका का मुख उसी भाँति संकुचित हो जाता है जिस प्रकार शशांक-निशानाथ चन्द्रमा के विरह में कुमुदिनी मुरझा जाती है ।

टिप्पणी—यहाँ नायिका का मुख उपमेय, कुमुदिनी उपमान, इव उपमावाचक शब्द और संकुचित होना समानधर्म है । अतः यहाँ पूर्णोपमा हुई ॥ ५३ ॥

अन्योन्योपमाप्रकारमाह—

तं णमह वीअराअं जिणिन्दमुद्दलिअदिढअरकसाअम् ।
जस्स मणं व सरीरं मणं सरीरं व सुपसन्नम् ॥ ५४ ॥

[तं नमत वीतरागं जिनेन्द्रमुद्दलितदृढतरकषायम् ।
यस्य मन इव शरीरं मनः शरीरमिव सुप्रसन्नम् ॥]

तं वीतरागं जिनेन्द्रं नमत । खण्डितमुद्दलितकषायम् । यस्य मन इव शरीरं सुप्रसन्नं शरीरमिव मनः सुप्रसन्नम् ॥ ५४ ॥

वीतराग एवं बाह्येन्द्रियों के निग्रह के द्वारा मनोगत दोषों को दूर करने वाले उन भगवान् जिनदेव को प्रणाम करो, जिनका मन शरीर की भाँति और शरीर मन की भाँति प्रफुल्लित रहता है ।

टिप्पणी—यहाँ मन और शरीर में अन्योन्य उपमेयोपमान सम्बन्ध होने के कारण 'अन्योन्योपमा' अलंकार है ॥ ५४ ॥

क्रियाभेदानामन्योपमालङ्कारो यथा—

ये देव भवतः पादौ भवत्पादाविवाश्रिताः ।
ते लभन्तेऽद्भुतां भव्याः श्रियं त एव शाश्वतीम् ॥ ५५ ॥

हे देव, ये भव्या भवत्पादाविव भवत्पादाविवाश्रिताः । यथा भवत्पादावाश्रियेते तथा भवत्पादाश्रिताः । यथा हे राजन्, यथा त्वं सेव्यसे तथा त्वां सेविष्येऽहम् । तथात्रापि ये भवत्पादाविव भवतः पादावाश्रितास्ते भव्यास्त एवाद्भुतां श्रियं लभन्ते ॥ ५५ ॥

हे देव ! जो आपके चरणों के समान ही आपके चरणों के आश्रित हैं वे अपने ही समान अद्भुत ऐश्वर्य वाली निश्चल लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं ।

टिप्पणी—साहित्यदर्पण में अनन्वय का यह लक्षण बतलाया गया है—'उपमानोपमेयत्वमेकस्यैव त्वनन्वयः' अर्थात् जहाँ पर एक ही शब्द क्रम से उपमेय और उपमान का काम करता है वहाँ 'अनन्वय' अलंकार समझना चाहिये । इस श्लोक में चरणों की उपमा से चरणों और आश्रितों की उपमा आश्रितों से दी गयी है अतः यहाँ पर 'अनन्वय' अलंकार है ॥ ५५ ॥

उपमेयप्रचुरोपमालंकारमाह—

आलोकनं च वचनं च निगूहनं च यासां स्मरन्नमृतवत्सरसं कृशस्त्वम् ।
तासां किमङ्ग पिशितास्रपुरीषपात्रं गात्रं विचिन्त्य सुदृशां न निराकुलोऽसि ॥

हे सखे, यासां स्त्रीणामालोकनं वचनं च निगूहनमालिङ्गनं चामृतवत्सरसं स्मरंस्त्वं कृशो जातः । हे सखे, अङ्ग कोमलामन्त्रणे । तासां सुदृशां पिशितास्रपुरीषपात्रं मांसरुधिरामेध्यस्थानं गात्रं देहं विचिन्त्य किं न निराकुलोऽसि न समभावशोऽसि ॥ ५६ ॥

हे शिष्य ! जिस सुनयना (स्त्री) के दर्शन, वचन और आलिङ्गन को तू अमृत के समान मधुर समझकर उसके स्मरण से नित्यप्रति क्षीण होता जा रहा है, उसके मांस, अस्थि और मल से निर्मित शरीर का चिन्तन करके तू व्याकुल क्यों नहीं हो उठता ! (अर्थात् उस सुन्दरी के मांस-मज्जामय शरीर को देखकर तुझे विरक्ति क्यों नहीं हो जाती ?)

टिप्पणी—यहाँ पर दर्शन, वचन और आलिङ्गन—ये तीन उपमेय हैं और उपमान है केवल अमृत । अतएव यह 'समुच्चय' नामक अलङ्कार है ॥ ५६ ॥

उपमानप्रचुरोपमालङ्कारमाह—

कलेव चन्द्रस्य कलङ्कमुक्ता मुक्तावलीवोरुगुणप्रपन्ना ।
जगत्त्रयस्याभिमतं ददाना जैनेश्वरी कल्पलतेव मूर्तिः ॥ ५७ ॥

जैनेश्वरी मूर्तिश्चन्द्रस्य कलेव कलङ्कमुक्ता मुक्तावलीवोरुगुणप्रपन्ना गुणयुक्ता कल्पलतेव जगत्त्रयस्याभिमतं ददाना ॥ ५७ ॥

जिनेश्वर ऋषभदेव की मूर्ति चन्द्रकला के समान निष्कलंक, दीर्घ सूत्र से गुँथी हुई माला के समान गुणयुक्त और संसार की रक्षा के लिये वाञ्छित फल को देने वाली कल्पलता के समान वरदायिनी है ।

टिप्पणी—'साहित्यदर्पण'कार ने मालोपमा का लक्षण इस प्रकार बताया है—'मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते' अर्थात् मालोपमालङ्कार वहाँ होता है जहाँ एक ही उपमेय के अनेक उपमान होते हैं । 'समुच्चय' और 'मालोपमा' में यह भेद है कि 'समुच्चय' में उपमान तो केवल एक होता है और उपमेय अनेक; किन्तु 'मालोपमा' में उपमेय एक होता है और उपमान अनेक । यहाँ ऋषभदेव की मूर्ति उपमेय है और चन्द्रमा की कला, माला और कल्पलता—तीन उपमान हैं । अतः इसमें 'मालोपमा' अलङ्कार है ॥ ५७ ॥

अथोपमालङ्कारदूषणान्याह—

विभिन्नलिङ्गवचनां नातिहीनाधिकां च ताम् ।
निबध्नन्ति बुधाः क्वापि लिङ्गभेदं तु मेनिरे ॥ ५८ ॥

विभिन्नलिङ्गां विभिन्नवचनां चोपमां न निबध्नन्ति । तथा अतिहीनाधिकामिति । अतिहीनामत्यधिकां चोपमां न निबध्नन्ति । विशेषमाह—बुधाः क्वापि लिङ्गभेदं मेनिरे ॥ ५८ ॥

काव्य-शास्त्र के आचार्य उपमेय और उपमान में लिङ्ग और वचन के भेद को नहीं उत्पन्न होने देते तथा उपमेय और उपमान में एक दूसरे की अपेक्षा हीन अथवा अधिक प्रयोग भी नहीं करते। किन्तु कहीं-कहीं आचार्य लिङ्गभेद को दोष नहीं भी मानते ॥ ५८ ॥

उदाहरणमाह—

> हिममिव कीर्तिर्धवला चन्द्रकलेवातिनिर्मला वाचः ।
> ध्वाङ्क्षस्येव च दाक्ष्यं नभ इव वक्षश्च ते विपुलम् ॥ ५९ ॥

हे सुभग, तव कीर्तिर्हिममिव धवलेत्यत्र कीर्तेः स्त्रीलिङ्गत्वम्, हिममिवेति नपुंसकम् । अत्र उपमानोपमेययोर्लिङ्गभेदः । तव वाचश्चन्द्रकलेवातिनिर्मलाः । वाच इत्यत्र बहुवचनम्, चन्द्रकलेत्यत्रैकवचनम् । अतो वचनभेदः । तव दाक्ष्यं दक्षता ध्वाङ्क्षस्येव वर्तते । हीनोपमैषा । तव वक्षो नभ इव विपुलम् । अधिकोपमैषा । अमी उपमादोषाः कविना चिन्तनीयाः ॥ ५९ ॥

हे राजन्! आप की कीर्ति हिम के समान शुभ्र है, वाणी चन्द्रकला की भाँति निर्मल—निष्कपट है। आपकी चतुरता कौए के समान है और वक्षःस्थल! वह तो आकाश के समान अत्यन्त विस्तीर्ण है।

टिप्पणी—यहाँ पर उपमेयरूप 'कीर्ति' स्त्रीलिंग है किन्तु इसका उपमान 'हिम' नपुंसक है। इस प्रकार इसमें उपमेय और उपमान में लिङ्गभेद है। 'चन्द्रकला' और 'वाचः' में प्रथम एकवचन है और दूसरा बहुवचन। उपमानरूप कौआ उपमेयरूप राजा से हीन है; 'नभः' पुंल्लिंग है किन्तु उसके साथ जो उपमेय है 'वक्षः'—वह नपुंसकलिङ्ग का शब्द है। अतएव उपर्युक्त श्लोक में प्रयुक्त उपमा लिङ्गवचनादि के भेद से दूषित हो गयी है ॥ ५९ ॥

> शुनीयं गृहदेवीव प्रत्यक्षा प्रतिभासते ।
> खद्योत इव सर्वत्र प्रतापश्च विराजते ॥ ६० ॥

इयं शुनी गृहदेवीवेत्यत्राधिकोपमा । तव प्रतापः खद्योत इवेत्यत्र हीनोपमा च सदोषा । हिममिव कीर्तिर्धवलेत्यत्र लिङ्गभिन्नोपमा सदोषा । शुनीयं गृहदेवीवेत्यत्र हीनाधिकोपमा सदोषा ॥ ६० ॥

यह कुक्कुरी साक्षात् गृहदेवी-सी प्रतीत हो रही है और प्रताप जुगनू की भाँति चारों ओर फैल रहा है।

टिप्पणी—इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में उपमेयभूत कुक्कुरी से उपमानभूत गृहदेवी श्रेष्ठ है और उत्तरार्द्ध में उपमेयरूप प्रताप से उपमानरूप खद्योत हीन है ॥ ६० ॥

अथ हीनविशेषणोपमेयोपमामुपमानोपमामाह—

सफेनपिण्डः प्रौढोर्मिरब्धिः शार्ङ्गीव शङ्खभृत् ।
स्रोतन्मदः करी वर्षन्विद्युत्वानिव वारिदः ॥ ६१ ॥

अब्धिः समुद्रः शार्ङ्गी विष्णुरिव वर्तते । शङ्खभृदुभयोर्विशेषणमेतल्लगति । परं सफेनपिण्डः प्रौढोर्मिरिति विशेषणद्वयं समुद्रे लगति न तु विष्णौ । अत उपमेयविशेषणानि सर्वाण्युपमाने न लगन्ति ततः सदोषमेतत् स्वर्थं न कार्यम् । स्रोतन्मदः करी गजो वर्षन्वारिद इव वर्तते इत्यत्र विद्युत्वानिति विशेषणमुपमेये करिणि न लगति, किंतु वारिदे उपमानरूपे लगतीत्यतः सदोषम् एवमपि न कार्यम् ॥ ६१ ॥

फेनिल जल से युक्त और ऊँची-ऊँची लहरों वाला सागर शङ्ख धारण करने वाले भगवान् विष्णु की भाँति है (क्योंकि समुद्र में शङ्ख होते ही हैं और भगवान् विष्णु भी शङ्खादि आयुधों को धारण करनेवाले हैं); मदस्राव करने वाला हाथी बिजली से युक्त मेघ के समान है (क्योंकि हाथी भी श्यामवर्ण है और मेघावलि भी श्याम; हाथी मद की वर्षा करता है और मेघों से जलवृष्टि होती है) ।

टिप्पणी—श्लोक के पूर्वार्द्ध में समुद्र उपमेय है और विष्णु भगवान् उपमान किन्तु उपमान की अपेक्षा उपमेय के लिये अधिक विशेषणों का प्रयोग किया गया है । उत्तरार्द्ध में हाथी उपमेय है और मेघ उपमान; किन्तु यहाँ उपमेय की अपेक्षा उपमान के लिये अधिक विशेषणों का प्रयोग हुआ है ॥ ६१ ॥

क्वापि लिङ्गभेदं न मेनिरे कवय इत्याह—

मुखं चन्द्रमिवालोक्य देवाह्लादकरं तव ।
कुमुदन्ति मुदाक्षीणि क्षीणमिथ्यात्वसम्पदाम् ॥ ६२ ॥

हे देव जिन, क्षीणमिथ्यात्वसम्पदामक्षीणि मुदा तव मुखं चन्द्रमिवाह्लादकरमालोक्य कुमुदन्तीत्येवं निन्दापि ॥ ६२ ॥

हे राजन् ! चन्द्रमा के समान सुन्दर और आनन्ददायक आपके मुख को देखकर उन (स्त्रियों) के नेत्र आनन्द से कुमुदिनी की भाँति प्रफुल्लित हो उठते हैं जिन (स्त्रियों) का मिथ्या सौन्दर्य (आपके वियोग में) क्षीण हो चला था ।

टिप्पणी—यहाँ पर उपमेयरूप नेत्र और उपमानरूप कुमुदिनी में लिङ्गभेद है ॥

अथ समासमध्यस्थोपमेयोपमालिङ्गभेदमाह—

निजजीवितेशकरजाङ्कक्षतपङ्क्तयः शुशुभिरे सुरते ।
कुपितस्मरप्रहितबाणगणव्रणजर्जरा इव सरोजदृशः ॥ ६३ ॥

सरोजदृशः स्त्रियः सुरते निजजीवितेशकरजाङ्कक्षतपङ्क्तयः कुपितस्मरप्रहितबाणग-

णव्रणजर्जरा इव सुश्रुविरे । सरोजदृश इत्यत्र सरोजशब्दो नपुंसको दृश इति स्त्रीलिङ्ग एवं न दोषाय ॥ ६३ ॥

सुरतकाल में प्राणेश के नखक्षत की पंक्तियों से परिपूर्ण कमलनयनी सुन्दरियों का शरीर क्रोधातुर कामदेव के द्वारा छोड़े गये बाणों के घावों से जर्जरित-सा प्रतीत हो रहा है ।

टिप्पणी—प्राणेश के नखक्षत की पंक्तियाँ स्त्रीलिङ्ग हैं किन्तु उनका उपमान कामदेव के बाण से जर्जरित शरीर पुल्लिंग । अतः यहाँ पर उपमेय और उपमान में लिङ्गभेद होने पर भी दोष नहीं माना जाता क्योंकि यह समस्त पद है ॥ ६३ ॥

अथ रूपकालङ्कार उच्यते—

रूपकं यत्र साधर्म्यादर्थयोरभिदा भवेत् ।
समस्तं वासमस्तं वा खण्डं वाखण्डमेव वा ॥ ६४ ॥

यत्र द्वयोरर्थयोः साधर्म्यात्सादृश्यादभिदा अभेदो भवति तद्रूपकालङ्कारो भवति । तद्रूपकं चतुर्धा—समस्तं समस्यन्तं (मानम्) असमस्तमसमस्यन्तं (मानम्) खण्डं वा । यद्रूपकं विशेषणेषु खण्डे जायते, तत्खण्डमेव । अखण्डमेव वस्तु रूपके अवतार्यते तदखण्डम् ॥ ६४ ॥

जहाँ धर्म-साम्य के कारण उपमेय और उपमान में भेद ही न रह जाय वहाँ पर 'रूपक' अलङ्कार होता है । (उपमेय और उपमान में भेद के मिट जाने से एक का आरोप दूसरे पर किया जाता है । इसीलिये इसे 'रूपक' कहते हैं) । रूपक के चार भेद हैं—(१) समासयुक्त, (२) समासरहित, (३) अपूर्ण और (४) पूर्ण । अपूर्ण को निरङ्ग और पूर्ण को साङ्गरूपक भी कहते हैं ॥ ६४ ॥

अथ यथाक्रममुदाहरणानि ज्ञेयानि । समस्यन्तं (मानं) रूपकमाह—

कीर्णान्धकारालकशालमाना निबद्धतारास्थिमणिः कुतोऽपि ।
निशापिशाची व्यचरद्दधाना महान्त्युलूकध्वनिफेत्कृतानि ॥ ६५ ॥

निशापिशाची निशैव पिशाची निशापिशाची महान्ति उलूकध्वनिफेत्कृतानि दधाना कुतोऽपि व्यचरत् वितस्तार । उलूकध्वनय एव फेत्कृतानि उलूकध्वनिफेत्कृतानि । कीदृशी सा । कीर्णं विक्षिप्तमन्धकारं तदेवालकाः कुटिलकेशास्तैः शालमाना शोभमाना । तथा—निबद्धास्तारा एवास्थिमणयो यया सा तथा । अत्र निशापिशाची उलूकध्वनय एव फेत्कृतानि कीर्णान्धकारमेवालकास्तारा एवास्थिमणय इत्यर्थयोर्द्वयोरभेदाद्रूपकं समासकरणात्स-मस्यन्त(मान)म् । तथा—निशा पिशाचीव उलूकध्वनयः फेत्कृतानीवेत्यादीवशब्देनापि सादृश्यमेव ॥ ६५ ॥

सघन अन्धकाररूप केशराशि से सुशोभित, नक्षत्ररूप अस्थियों की

मणिमाला से मण्डित, उल्लुओं की ध्वनिरूप फूत्कार करती हुई यह निशा-पिशाचिनी कहाँ से आ गयी।

टिप्पणी—यहाँ पर उपमेयभूत रात्रि का उपमानभूत पिशाची से साधर्म्य है, जिसका सम्यक्‌रूप से वर्णन किया गया है। साथ ही निशापिशाची एक समस्त पद भी है। अतः यह समस्त पूर्णरूपक का उदाहरण हुआ॥ ९५॥

असमस्तं पृथग्विभक्त्या भेदम्। यथा—

संसार एष कूपः सलिलानि विपत्तिजन्मदुःखानि।
इह धर्म एव रज्जुस्तस्मादुद्धरति निर्मग्नान्॥ ९६॥

एष संसारः कूपः। विपत्तिजन्मदुःखानि सलिलानि। धर्म एव रज्जुस्तस्मात्संसारकूपान्निर्मग्नान्प्राणिन उद्धरति। अत्र पृथक् पृथक् विभक्तिभावादसमस्तो रूपकालङ्कारः॥ ९६॥

इस संसारकूप में विपत्ति, जन्म और दुःख ही जल है। धर्मरूप रस्सी इन विपत्ति, जन्म और दुःखरूप जल में डूबे हुए लोगों को निकालने वाली है।

टिप्पणी—यहाँ संसार, विपत्ति, जन्म, दुःख और धर्म—ये उपमेय हैं और कूप, जल तथा रस्सी उपमान। इनमें कोई भी पद समस्त न होने के कारण असमस्त पूर्णरूपक अलङ्कार है॥ ९६॥

एतत्समस्तासमस्तमुभयमपि द्विधा खण्डमखण्डं च। तदेवाह—

अधरं मुखेन नयनेन रुचिं सुरभित्वमाब्जमिव नासिकया।
नववर्णिनीवदनचन्द्रमसस्तरुणा रसेन युगपन्निपपुः॥ ९७॥

तरुणा नववर्णिनीवदनचन्द्रमसो नवरमणीमुखचन्द्रस्य रसेन युगपन्मुखेनाधरं निपपुः। नयनेन रुचिं निपपुः। नासिकया सुरभित्वं निपपुः। उत्प्रेक्ष्यते—अब्जमिव। यथा नासिकया आब्जं सुरभित्वं निपीयत इत्यर्थः। अत्र वदनचन्द्रमसो मुखेनाधरं नयनेन रुचिमित्यादिखण्डकरणात्खण्डरूपकमिदम्। आब्जमिवेति। पद्मिनी स्त्री कमलगन्धा भवत्येव॥ ९७॥

युवक जन एक साथ ही प्रेम से नवोढा कामिनियों के चन्द्रमुख का अधर-पान मुख से करते हैं, कान्ति का आस्वाद नेत्रों से लेते हैं और कमल के समान उन कामिनियों की जो सुगन्धि है—उसका रस वे नासिका द्वारा ग्रहण किया करते हैं।

टिप्पणी—यहाँ पर उपमेयरूप नवोढा के मुख और उपमानरूप चन्द्रमा के सभी धर्मों में साम्य न होने से निरङ्गरूपक है और 'नवकामिनीवदनचन्द्रमसः' एक समस्त पद है। अतएव यह समस्तखण्डरूपक अलङ्कार का उदाहरण है॥ ९७॥

अखण्डमाह—

ज्योत्स्नया धवलीकुर्वन्नुर्वीं सकुलपर्वताम् ।
निशाविलासकमलमुदेति स्म निशाकरः ॥ ६८ ॥

निशाकर उदेति स्म । कीदृशः । ज्योत्स्नया सकुलपर्वतां कुलपर्वतसहितामुर्वीं पृथ्वीं धवलीकुर्वन् । तथा—निशाया विलासकमलम् । अखण्ड एव चन्द्रो निशाया विलासकमलं स्यादतोऽखण्डं रूपकमेतत् ॥ ६८ ॥

रात्रि का विलासकमल चन्द्रमा समस्त पर्वतकुलों से युक्त पृथ्वी को अपनी ज्योत्स्ना से शुभ्र करता हुआ उदित हुआ ।

टिप्पणी—**यहाँ पर निशाकर उपमेय है और निशाविलासकमल उपमान । इन दोनों में लिङ्गभेद है, दोनों में सभी धर्मों को समान नहीं वर्णित किया गया है और उपमेय तथा उपमान में कोई समास भी नहीं है । अतः इस उदाहरण में असमस्तखण्डरूपक अलङ्कार है ॥ ६८ ॥**

अथ रूपके लिङ्गभेदं दर्शयति—

हस्ताग्रविन्यस्तकपोलदेशा मिथो मिलत्कङ्कणकुण्डलश्रीः ।
सिषेच नेत्रस्रवदश्रुधारा दोःकन्दलीं काचिदवश्यनाथा ॥ ६९ ॥

काचिदवश्यनाथा नायिका दोःकन्दलीं भुजादण्डलतां नेत्रस्रवदश्रुधारा लोचननिर्गच्छ-दश्रुजलेन सिषेच । कीदृशी । हस्ताग्रे विन्यस्तः कपोलदेशो यया सा । तथा—मिथो मिलन्ती कङ्कणकुण्डलयोः श्रीर्यस्याः सा । रूपकेऽत्र लिङ्गभेदो दोःकन्दलीमिति दोरिति पुंलिङ्गशब्दः कन्दलीशब्दः स्त्रीलिङ्गोऽवगन्तव्यः । समासा रूपकालङ्कारः ॥ ६९ ॥

हथेली पर अपने कपोलों को रखने से कङ्कण और कुण्डल की शोभा को एक करती हुई बेचारी चिन्तामग्ना अस्वाधीनपतिका नायिका अपने नेत्रों से बहती हुई अश्रुधारा से भुजारूप कदलीदण्ड को सींचती रहती थी ।

टिप्पणी—**'दोः' और 'कन्दली' में लिङ्गभेद होने पर भी दोनों समस्त पद हैं, किन्तु इनके समान धर्मों का सम्यक् रूप से वर्णन नहीं किया गया है । अतः यह समस्तखण्डरूपक का उदाहरण है ॥ ६९ ॥**

अथ प्रतिवस्तूपमालङ्कारमाह—

अनुपात्ताविवादीनां वस्तुनः प्रतिवस्तुना ।
यत्र प्रतीयते साम्यं प्रतिवस्तूपमा तु सा ॥ ७० ॥

इवादीनां शब्दानामनुपात्तौ अकथने यत्र वस्तुनः प्रतिवस्तुना साम्यं समता प्रतीयते सा प्रतिवस्तूपमा ज्ञेया ॥ ७० ॥

जिस अलङ्कार में 'इव' इत्यादि उपमावाचक शब्दों के न रहने पर भी प्रस्तुत और अप्रस्तुत में साम्य दिखाया जाता है उसे 'प्रतिवस्तूपमा' कहते हैं ॥ ७० ॥

अथ प्रतिवस्तूपमायां लिङ्गभेदं दर्शयति—

> बहुवीरेऽप्यसावेको यदुवंशेऽद्भुतोऽभवत् ।
> किं केतक्यां दलानि स्युः सुरभीण्यखिलान्यपि ॥ ७१ ॥

बहुवीरेऽपि यदुवंशेऽसावेको नेमीश्वरोऽद्भुतोऽभवत् । केतक्यां निखिलान्यपि दलानि किं सुरभीणि भवन्ति । अत्र केतक्यामिति लिङ्गभेदः ॥ ७१ ॥

यदुवंश में तो अनेक योद्धा भरे पड़े हैं, तथापि श्रीकृष्ण उन सब से अद्भुत ही हैं। क्यों न हों! क्या केतकी के सभी पत्ते सुगन्धित होते हैं (अर्थात् नहीं होते)।

टिप्पणी—यद्यपि 'इव' इत्यादि उपमावाचक एक भी शब्द यहाँ पर नहीं है तथापि उपमेयभूत यदुवंश और उपमानभूत केतकी में साधर्म्य की प्रतीति होती है। अतएव यह 'प्रतिवस्तूपमा' अलङ्कार का उदाहरण बतलाया गया है॥ ७१ ॥

अथ भ्रान्तिमन्तमलङ्कारमाह—

> वस्तुन्यन्यत्र कुत्रापि तत्तुल्यस्यान्यवस्तुनः ।
> निश्चयो यत्र जायेत भ्रान्तिमान्स स्मृतो यथा ॥ ७२ ॥

यत्र तुल्यस्यान्यवस्तुनोऽन्यत्र कुत्रापि वस्तुनि निश्चयो जायते निश्चयः संभवति स भ्रान्तिमानलङ्कारः कथितोऽलङ्कारवेदिभिः ॥ ७२ ॥

जिस अलङ्कार में एक ही वस्तु में उसके समान अन्य वस्तु का भ्रम होता हो उसे 'भ्रान्ति' कहते हैं॥ ७२ ॥

उदाहरणमाह—

> हेमकमलं ति वअणे णअणे णीलुप्पलं ति पसयच्छि ।
> कुसुमं ति तुज्झ हसिए णिवडइ भमराण रिञ्छोली ॥ ७३ ॥
>
> [हेमकमलमिति वदने नयने नीलोत्पलमिति प्रसृताक्षि ।
> कुसुममिति तव हसिते निपतति भ्रमराणां श्रेणिः ॥]

हे प्रसृताक्षि, भ्रमराणां श्रेणिस्तव वदने इदं हेमकमलमिति भ्रान्त्या निपतति। तव नयने इदं नीलोत्पलमिति भ्रान्त्या निपतति। तव हसिते इदं कुसुममिति भ्रान्त्या निपतति। अत्र भ्रान्तिमदलङ्कारे अन्त्यक्रियादीपकं ज्ञेयम्। उक्तो भ्रान्तिमदलङ्कारः ॥ ७३ ॥

हे विशालाक्षि! तेरे मुख में स्वर्णकमल, नेत्र में नीलकमल और हास्य में पुष्प के भ्रम से आसक्त होकर भ्रमर तेरे ऊपर टूट पड़ते हैं।

टिप्पणी—मुख, नेत्र और हास्य में क्रमशः स्वर्णकमल, नीलकमल और पुष्प की भ्रान्ति से यहाँ 'भ्रान्ति' अलङ्कार है॥ ७३ ॥

अथाक्षेपालङ्कारस्यावसरस्तस्य लक्षणमाह —

उक्तिर्यत्र प्रतीतिर्वा प्रतिषेधस्य जायते ।
आचक्षते तमाक्षेपालङ्कारं विबुधा यथा ॥ ७४ ॥

यत्रोक्तिरथवा प्रतीतिः प्रतिषेधस्य जायते । विबुधास्तमाक्षेपालङ्कारमाचक्षते वदन्ति । यथोदाहरणे ॥ ७४ ॥

जिस अलङ्कार में प्रतिषेध-कथन अथवा प्रतिषेध-प्रतीति होती है, उसे बुद्धिमान् लोग 'आक्षेप' कहते हैं ॥ ७४ ॥

इन्द्रेण किं यदि स कर्णनरेन्द्रसूनुरैरावतेन किमहो यदि तद्द्विपेन्द्रः ।
दम्भोलिनाप्यलमलं यदि तत्प्रतापः स्वर्गोऽप्ययं ननु मुधा यदि तत्पुरी सा ॥७५॥

यदि स कर्णनरेन्द्रसूनुर्जयसिंहदेवो राजाभूत्तदा इन्द्रेण किम् । यदि तस्य द्विपेन्द्रः पट्टगजेन्द्रो दृश्यते तदा ऐरावतेन किम् । यदि तस्य प्रतापोऽलमत्यर्थं तपति दम्भोलिना वज्रेणालं पूर्यताम् । यदि सा तत्पुरी लेभे तदा स्वर्गोऽप्ययं मुधा । एतदुदाहरणमुक्तिविषयम् । उक्तिः साक्षाद्दर्शकाशब्दः । अत्र यदि कर्णनरेन्द्रसूनुस्तदा इन्द्रेण किमित्यादि साक्षादर्थप्रकाशनं सर्वमप्यस्ति । प्रतीतावाक्षेपोदाहरणं द्विधा—विधिपूर्वको निषेधो निषेधपूर्वको विधिश्च ॥ ७५ ॥

जहाँ राजा कर्णसिंह का पुत्र (जयसिंह) उपस्थित हो वहाँ इन्द्र से क्या प्रयोजन ? (इन्द्र के समान बलशाली जयसिंह तो स्वयं ही उपस्थित है) । अरे ! जहाँ उन (जयसिंह) का हाथी हो वहाँ ऐरावत का क्या काम ! (ऐरावत के समान ही दीर्घकाय तो राजा जयसिंह का हाथी भी है) । उस (राजा जयसिंह) के प्रताप के सामने वज्र की क्या आवश्यकता ? (शत्रु-संहाररूप जो कार्य वज्र से हो सकता है वह कार्य तो राजा जयसिंह के प्रताप से ही सम्भव है) । उस (राजा जयसिंह) की नगरी के सामने स्वर्ग भी व्यर्थ ही है क्योंकि स्वर्ग से भी अधिक ऐश्वर्यवती उसकी नगरी है ।

टिप्पणी—यहाँ 'इन्द्रादि (प्रतिषेध) से क्या प्रयोजन' इस प्रकार कहने से 'आक्षेप' अलङ्कार है ॥ ७५ ॥

प्राग्विधिपूर्वकनिषेधे उदाहरणं यथा—

यस्यास्ति नरकक्रोडनिवासे रसिकं मनः ।
सोऽस्तु हिंसानृतस्तेयतत्परः सुतरां जनः ॥ ७६ ॥

यस्य जनस्य मनो नरकक्रोडनिवासे रसिकं भवति । 'क्रोड उत्सङ्ग उच्यते' । स जनः सुतरामत्यर्थं हिंसानृतस्तेयतत्परोऽस्तु भवतात् । अत्र तावत्प्रतीतिः कथम् । अत्र यो नरके गन्ता स हिंसादिकं करोत्विति विधिमालोक्यैतावता हिंसादि केनापि न कर्तव्यमिति

प्रतीयमानो निषेधोऽस्ति, परं साक्षात्पाश्चात्यवध्व इश्यमानोऽस्त्यर्थोऽत यथा विधिपूर्वक-निषेधात्मिका प्रतीतिरवगन्तव्या ॥ ७६ ॥

जिस व्यक्ति का मन नरक के समीप निवास करने में रमा हुआ है, वह व्यक्ति निरन्तर हिंसा, असत्य और चोरी में लीन रहता है।

टिप्पणी—यहाँ नरक में निवास और हिंसा, असत्य और चोरी आदि प्रतिषेध-कथन से 'आक्षेप' अलङ्कार है ॥ ७६ ॥

अथ निषेधपूर्वकविधौ प्रतीतिरवगन्तव्या—

इच्छन्ति जे ण कित्तिं कुणन्ति करुणं खणं पि जे णेव।
ते धणजक्ख व्व णरा दिन्ति धणं मरणसमए वि ॥ ७७ ॥

[इच्छन्ति ये न कीर्तिं कुर्वन्ति करुणां क्षणमपि ये नैव।
ते धनयक्षा इव नरा ददति धनं मरणसमयेऽपि ॥]

ये कीर्तिं नेच्छन्ति। ये च क्षणमपि करुणां नैव कुर्वन्ति। ते किं मरणसमयेऽपि धनयक्षा इव धनं ददतीत्यर्थः। एतावता कीर्तिमभिलषद्भिः करुणां च कुर्वद्भिर्धनमवसरे देयमित्यर्थः। अत्र निषेधपूर्वको विधिरवगन्तव्यः। देयमिति प्रतीयमानोऽर्थस्तोऽत्रापि प्रतीतिर्घटते। एषा अवचूरिः स्वमत्या कल्पितास्ति। वृत्तौ तु न किमपि विद्यते तथा ॥ ७७ ॥

जो लोग यश की अभिलाषा नहीं करते और जो लेशमात्र भी करुणा नहीं करते तथा जो यक्ष की भाँति धन की रक्षा में लगे रहते हैं वे लोग मरण काल में तो अवश्य ही धन दे देंगे (अर्थात् कराल काल उन लोगों को धन से अलग कर ही देगा)।

टिप्पणी—यहाँ पर अनावश्यक धनसंचयरूप प्रतिषेध की प्रतीति स्पष्ट होने से 'आक्षेप' अलङ्कार हुआ ॥ ७७ ॥

संशयालङ्कारमाह—

इदमेतदिदं वेति साम्याद्बुद्धिर्हि संशयः।
हेतुभिर्निश्चयः सोऽपि निश्चयान्तः स्मृतो यथा ॥ ७८ ॥

साम्यात्समानभावात्। एतदिदं वेत्येवं बुद्धिर्हि निश्चितं संशयालङ्कार उच्यते। यदा तु संशयं मुक्त्वा यैर्भिर्निश्चयो जातः सोऽपि निश्चयान्तः संशयालङ्कार उच्यते। संशय-निश्चयालङ्कार इत्यर्थः ॥ ७८ ॥

(किसी वस्तु में) धर्म-साम्य के कारण 'अमुक (वस्तु) यह है कि वह है इस प्रकार जब संशय की उद्भावना होती है तो वहाँ 'संशय' अलंकार माना जाता है। वही (संशय) जब पर्याप्त कारणों से निश्चित हो जाता है तो उसको 'निश्चय' अलंकार कहते हैं ॥ ७८ ॥

उदाहरणमाह—

किं केशपाशः प्रतिपक्षलक्ष्म्याः किं वा प्रतापानलधूम एषः ।
इत्थं भवत्पाणिगतं कृपाणमेवं कवीनां मतयः स्फुरन्ति ॥ ७९ ॥

हे जयसिंहदेव राजन्, भवत्पाणिगतं कृपाणं दृष्ट्वा कवीनां मतय एवं स्फुरन्ति । एवं संशयं विदधतीत्यर्थः । किमेष प्रतिपक्षलक्ष्म्याः केशपाशो न तु खड्गः । अथवा किमेष प्रतापानलधूमः । केशपाशोऽपि कृष्णः धूमोऽपि कृष्णः खड्गोऽपि कृष्णः । अतः संशयालङ्कारः ॥७९॥

हे राजन् ! आपके हाथ में कृपाण देखकर कवियों की बुद्धि इस प्रकार विवेचन करने लगती है कि क्या यह वैरिपक्षियों का केशपाश है अथवा आपकी प्रतापाग्नि का धुआँ है ।

टिप्पणी—इस श्लोक में कृपाण के लिये केशराशि और प्रतापाग्निधूम्र के संदेह से 'संशय' अलङ्कार है ॥ ७९ ॥

संशयनिश्चयालङ्कारोदाहरणमाह—

इन्द्रः स एष यदि किं न सहस्रमक्ष्णां लक्ष्मीपतिर्यदि कथं न चतुर्भुजोऽसौ ।
आः स्यन्दनध्वजधृतोद्धुरताम्रचूडः श्रीकर्णदेवनृपसूनुरयं रणाग्रे ॥ ८० ॥

स एष यदि इन्द्र इति संशयः । तर्हि अक्ष्णां नेत्राणां सहस्रं नास्ति तदा न भवतीन्द्र इति निश्चयः । यदि लक्ष्मीपतिस्तदा कथं नासौ चतुर्भुजः । आः ज्ञातम्—अयं रणाग्रे कर्णदेवनृपसूनुर्जयसिंहदेवः । कीदृशः । स्यन्दनस्य रथस्य ध्वजे धृत उद्धुर उत्कटस्ताम्रचूडः कुक्कुटो येन स तथा । समासः संशयालङ्कारः । संशयनिश्चयालङ्कारश्च ॥ ८० ॥

यदि ये इन्द्र हैं तो इनको सहस्र नेत्र क्यों नहीं हैं (इन्द्र तो सहस्राक्ष हैं) यदि ये भगवान् विष्णु हैं तो इनको चार भुजायें क्यों नहीं हैं (क्योंकि भगवान् विष्णु चतुर्भुज हैं) । ओह ! ये तो श्रीकर्णदेव के पुत्र राजा जयसिंह हैं; क्योंकि इनके रथ पर फहराने वाली जो ध्वजा है उस पर कुक्कुट चित्रित है ।

टिप्पणी—यहाँ राजा जयसिंह को देख कर इन्द्र अथवा विष्णु भगवान् का सन्देह हो रहा था । किन्तु उनके रथ में लगी हुई ध्वजा से निश्चित हो गया कि ये राजा जयसिंह ही हैं । अतः यह 'निश्चय' अलंकार का उदाहरण है ॥ ८० ॥

अथ दृष्टान्तालङ्कारमाह—

अन्वयख्यापनं यत्र क्रियया स्वतदर्थयोः ।
दृष्टान्तं तमिति प्राहुरलङ्कारं मनीषिणः ॥ ८१ ॥

यत्र क्रियया स्वतदर्थयोः स्वार्थयोरन्वयख्यापनं क्रियते । अन्वयः परस्परं योग्यगुणसम्बन्धस्तस्य ख्यापनं कथनं विधीयते तं दृष्टान्तमलङ्कारमिति मनीषिणो बुधाः प्राहुः ॥ ८१ ॥

जिस अलंकार में प्रस्तुत और अप्रस्तुत का क्रिया-गुण-चेष्टादि-सम्बन्ध से याथातथ्य वर्णन किया जाता है उसे आचार्यगण 'दृष्टान्त' अलङ्कार कहते हैं ॥८१॥

उदाहरणमाह—

पतितानां संसर्गं त्यजन्ति दूरेण निर्मला गुणिनः ।
इति कथयन्नरतीनां हारः परिहरति कुचयुगलम् ॥ ८२ ॥

हारो गुणी निर्मलश्च जरतीनां वृद्धस्त्रीणां कुचयुगलमिति कथयन्परिहरति । निर्मला गुणिनः पतितानां संसर्गं दूरेण त्यजन्ति । यथा ये ये गुणिनो निर्मलाश्च ते ते पतितसंसर्गं त्यजन्ति तथा हार इत्येषोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां दृष्टान्तः । अन्वयव्यापनं च सादृश्यमिति च पदं कयोः । स्वार्थेतरयोरित्यर्थः ॥ ८२ ॥

निर्मलमन गुणी व्यक्तियों को पतितजनों का संसर्ग दूर ही से छोड़ देना चाहिये इस प्रकार कहता हुआ वृद्धा स्त्री के वक्षःस्थल पर पड़ा हुआ हार उसके दोनों पतित (शिथिलता के कारण लटकते हुये) स्तनों को छोड़ देता है ।

टिप्पणी – पतितजनों के साथ सज्जनों के संसर्ग को अशोभित बतलाने के लिये वृद्धा स्त्री के शिथिल स्तनों पर लटकते हुए हार का दृष्टान्त दिया गया है । अतः यहाँ पर 'दृष्टान्त' अलङ्कार माना गया है ॥ ८२ ॥

व्यतिरेकमाह—

केनचिदत्र धर्मेण द्वयोः संसिद्धसाम्ययोः ।
भवत्येकतराधिक्यं व्यतिरेकः स उच्यते ॥ ८३ ॥

अत्र द्वयोः संसिद्धसाम्ययोः संसिद्धं साम्यं समानता ययोस्तौ तयोः संसिद्धसाम्ययोः केनचिद्धर्मेण केनचिद्गुणेनैकतराधिक्यं एकतरस्याधिकता भवति स व्यतिरेकालङ्कारः ॥ ८३ ॥

जिस अलङ्कार में उपमेय और उपमान में से कोई एक भी किसी धर्मविशेष के कारण दूसरे से उत्कृष्टतर प्रस्तुत किया जाता है उसको 'व्यतिरेक' अलङ्कार कहते हैं ॥ ८३ ॥

उदाहरणमाह—

अस्त्वस्तु पौरुषगुणाज्जयसिंहदेवपृथ्वीपतेर्मृगपतेश्च समानभावः ।
किन्त्वेकतः प्रतिभटाः समरं विहाय सद्यो विशन्ति वनमन्यमशङ्कमानाः ॥ ८४ ॥

जयसिंहदेवपृथ्वीपतेर्मृगपतेश्च पौरुषगुणात्समानभावोऽस्त्वस्तु । एकतो जयसिंहदेवात्समरं त्यक्त्वा प्रतिभटा वैरिणः सद्यो वनं विशन्ति । अन्यं सिंहमशङ्कमानाः । एतावता सिंहभयादपि राज्ञो भीरधिका तत एकतराधिक्यम् ॥ ८४ ॥

राजा जयसिंह और सिंह के पराक्रम में समानता हो तो हुआ करे (इससे क्या ! राजा जयसिंह फिर भी सिंह से अधिक पराक्रमी हैं) क्योंकि एक (राजा जयसिंह) के भय के कारण वैरी योद्धागण सहसा समराङ्गण को छोड़कर वन

की ओर भाग जाते हैं और दूसरे (सिंह) से निर्भीक होकर वन में ही निवास करते हैं ।

टिप्पणी—यहाँ पर उपमेयभूत राजा जयसिंह को उपमानभूत सिंह से अधिक बलशाली बताया गया है । इसीसे इसमें 'व्यतिरेक' अलङ्कार है ॥ ८४ ॥

अपह्नुतिमाह—

नैतदेतदिदं ह्येतदित्यपह्नवपूर्वकम् ।
उच्यते यत्र सादृश्यादपह्नुतिरियं यथा ॥ ८५ ॥

यत्र सादृश्यात्समानभावान्नैतद्धि निश्चितमिदमेतदिति अपह्नवपूर्वकमपलपनपूर्वकमुच्यते । इयमपह्नुतिर्वगन्तव्या ॥ ८५ ॥

जहाँ दो वस्तुओं में साधर्म्य होने के कारण एक को छिपाकर कहा जाता है कि 'अमुक वस्तु यह (छिपी हुई वस्तु) नहीं है' अपितु 'यह (अन्य वस्तु) है', वहाँ 'अपह्नुति' नामक अलङ्कार माना जाता है ॥ ८५ ॥

उदाहरणमाह—

नैतन्निशायां शितसूच्यभेद्यमन्धीकृतालोकनमन्धकारम् ।
निशागमप्रस्थितपञ्चबाणसेनासमुत्थापित एव रेणुः ॥ ८६ ॥

अत्रान्धकारस्यापह्नवं विधाय रेणुस्थापना एषा अपह्नुतिः ॥ ८६ ॥

यह रात्रि में तीक्ष्ण सुई से भी अभेद्य (अर्थात् सघन) और जिसमें कुछ भी दिखाई न दे सके वह अन्धकार नहीं है वरन् रात्रि के आगमन पर भेजी गई पञ्चबाण कामदेव की सेना के चलने से उठी हुई धूलिराशि है ।

टिप्पणी—यहाँ वास्तविक वस्तु (अन्धकार) को छिपाकर उसको समान धर्मवाली कामदेव की सेना के प्रयाण से उठती हुई धूलराशि बताया गया है । अतः यह अपह्नुति अलङ्कार का उदाहरण हुआ ॥ ८६ ॥

तुल्ययोगितालङ्कारमाह—

उपमेयं समीकर्तुमुपमानेन योज्यते ।
तुल्यैककालक्रियया यत्र सा तुल्ययोगिता ॥ ८७ ॥

यत्र तुल्यैककालक्रिययोपमानेन सहोपमेयं समीकर्तुं योज्यते सा तुल्ययोगिता भवति । तुल्या समाना एककालिकी क्रिया तुल्यैककालक्रिया तया करणभूतया ॥ ८७ ॥

जिस अलङ्कार में एक ही काल में होने वाली क्रिया के द्वारा उपमान के साथ उपमेय का समभाव स्थापित किया जाता है उसको 'तुल्ययोगिता' कहते हैं ॥८७॥

उदाहरणमाह—

तमसा लुप्यमानानां लोकेऽस्मिन्साधुवर्त्मनाम् ।
प्रकाशनाय प्रभुता भानोस्तव च दृश्यते ॥ ८८ ॥

हे जिन, तमसा पापेन पक्षेऽन्धकारेण लुप्यमानानां साधुवर्त्मनां प्रकाशनाय प्रभुता स्फुरसि । अथवा भानोरसि । अत्रोपमेयं जिनः । उपमानं भानुः । उपमेयमुपमानेन सर्धीकृतं दृश्यते । क्रिया द्वयोरपि तुल्या एककालिकी च । अथ कर्मण्युक्ते वर्तमान-कालोऽस्ति ॥ ८८ ॥

इस संसार में अन्धकार किंवा मोह से आच्छादित सन्मार्ग किंवा सदाचार को प्रकाशित करने के लिये भगवान् सूर्य और आपका प्रताप ही दिखाई देता है ।

टिप्पणी—यहाँ प्रस्तुत (राजा) और अप्रस्तुत (सूर्य) एक समय में एक ही क्रिया का अनुष्ठान कर रहे हैं अतः 'तुल्ययोगिता' अलङ्कार है ॥ ८८ ॥

उत्प्रेक्षालङ्कारमाह—

कल्पना काचिदौचित्याद्यत्रार्थस्य सतोऽन्यथा ।
द्योतितेवादिभिः शब्दैरुत्प्रेक्षा सा स्मृता यथा ॥ ८९ ॥

यत्र सतो विद्यमानस्यार्थस्यौचित्यायोग्यत्वादन्या काचिदिवादिभिः शब्दैर्द्योतिता कल्पना रचिता सा उत्प्रेक्षा स्मृता ॥ ८९ ॥

प्रस्तुत अर्थ के औचित्य से जिस अलङ्कार में 'इव' इत्यादि अव्ययों के द्वारा किसी अन्य अर्थ की कल्पना की जाती है उसे 'उत्प्रेक्षा' कहते हैं ॥ ८९ ॥

यथेत्युदाहरणमाह—

नभस्तले किंचिदिव प्रविष्टाश्चकाशिरे चन्द्ररुचिप्ररोहाः ।
जगद्गिलित्वा हसतः प्रमोदाद्दन्ता इव ध्वान्तनिशाचरस्य ॥ ९० ॥

चन्द्ररुचिप्ररोहाश्चन्द्रकिरणाङ्कुराः । नभस्तले किंचिदिवाल्पमात्रं यथा भवति प्रविष्टा रेजिरे नवोदयत्वात् । उत्प्रेक्षते—प्रमोदाज्जगद्गिलित्वा हसतो हास्यं कुर्वतो ध्वान्तनिशाचर-स्यान्धकाररक्षसो दन्ता इव । इवादिभिः शब्दैः । अत्रादिशब्दाद्यथा मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनं इत्यादयो ग्राह्याः । यथा—'जाने शङ्के ध्रुवं मन्ये यथा खलु यतैव वा । नन्विवापीति तु प्राज्ञा उत्प्रेक्षारूपकं विदुः' ॥ ९० ॥

आकाशमण्डल में छाये हुए चन्द्रकिरणाङ्कुर इस प्रकार प्रतीत हो रहे हैं मानो संसार को घेर कर आनन्द से हँसते हुए निशाचरों के दाँत चमक रहे हों ।

टिप्पणी—यहाँ चन्द्रकिरणाङ्कुरों की कल्पना हँसते हुए निशाचरों के दाँतों की चमक से की गई है । अतएव यह 'उत्प्रेक्षा' अलङ्कार है ॥ ९० ॥

अर्थान्तरन्यासालङ्कारमाह—

उक्तसिद्ध्यर्थमन्यार्थन्यासो व्याप्तिपुरःसरः ।
कथ्यतेऽर्थान्तरन्यासः श्लिष्टोऽश्लिष्टश्च स द्विधा ॥ ९१ ॥

यत्र उक्तसिद्ध्यर्थं व्याप्तिपुरःसरोऽन्यार्थन्यासो विधीयते सोऽर्थान्तरन्यासः कथ्यते । स द्विधा—श्लिष्टाश्लिष्टश्च । श्लेषसहितः । श्लेषरहितः ॥ ९१ ॥

किसी उक्ति को सिद्ध करने के लिए जहाँ युक्तिपूर्वक किसी अन्य अर्थ को प्रस्तुत किया जाता है वहाँ 'अर्थान्तरन्यास' नामक अलङ्कार होता है। यह 'अर्थान्तरन्यास' अलङ्कार दो प्रकार का होता है—श्लिष्ट अर्थान्तरन्यास और अश्लिष्ट अर्थान्तरन्यास ॥ ९१ ॥

शोणत्वमक्ष्णामसिताब्जभासां गिरां प्रचारस्त्वपरप्रकारः ।
बभूव पानान्मधुनो वधूनामचिन्तनीयो हि सुरानुभावः ॥ ९२ ॥

वधूनां मधुनो मद्यस्य पानादसिताब्जभासां नीलोत्पलभासामक्ष्णां नेत्राणां शोणत्वं रक्तता बभूव। तु पुनर्गिरां प्रचारोऽपरप्रकारो बभूव। विपरीतो जात इत्यर्थः। अत्र मद्यपानान्नेत्राणां रक्तत्वमुक्तं तस्योक्तस्य सिद्ध्यर्थं स्थापनार्थं पुनरर्थान्तरन्यासः। सुरानुभावो हि निश्चितमचिन्तनीयः। सुरा देवी मदिरा वा। तथा केनापि पृष्टं मद्यपानान्नेत्ररक्तत्वं किमायेत। तथा अचिन्तनीयो हि सुरानुभाव इत्यर्थान्तरन्यासेन रक्तत्वसिद्धिः। एष श्लिष्टार्थान्तरन्यासालङ्कारः ॥ ९२ ॥

मधुर रस अथवा मदिरापान के उपरान्त सुन्दरियों के नीलकमल के समान कान्तियुक्त नेत्र रक्तवर्ण हो गये और वाणी का उच्चारण भी और ही प्रकार का हो गया। ठीक ही है, क्योंकि मद्यपान का प्रभाव तो दुर्भावनीय होता ही है अथवा देवताओं का प्रभाव अचिन्तनीय होता ही है।

टिप्पणी—नेत्रों की लालिमा और वाणी के स्खलन की उक्ति को पुष्ट करने के लिये मद्य अथवा देवताओं की दुर्भावना को प्रस्तुत किया गया है। साथ ही 'सुरानुभाव' पद श्लिष्ट होने के कारण यह 'श्लिष्ट अर्थान्तरन्यास' अलङ्कार का उदाहरण है ॥ ९२ ॥

अश्लिष्टमाह—

शुण्डादण्डैः कम्पिताः कुञ्जराणां पुष्पोत्सर्गं पादपाश्चाक्रु चक्रुः ।
स्तब्धाकाराः किं प्रयच्छन्ति किञ्चित्कान्ता यावन्नोद्धतैर्वीतशङ्कम् ॥ ९३ ॥

पादपा वृक्षाः कुञ्जराणां शुण्डादण्डैः कम्पिताः सन्तश्चाक पुष्पोत्सर्गं चक्रुः। स्तब्धाकारा उद्धतैर्वीतशङ्कं निःशङ्कं यथा भवति यावन्न क्रान्तास्तावत्किंचित्प्रयच्छन्ति किम्। अत्र प्राक्तनपदद्वयोक्तस्याग्रेतनपदद्वयेनार्थान्तरन्यासरूपेण सिद्धिः कथिता ॥ ९३ ॥

हाथियों की सूँड़ से हिलाये हुए वृक्षों ने सुन्दर पुष्पों को छिटका दिया। ठीक ही है, क्योंकि कृपण जन जब तक निःशङ्कभाव से बलों के द्वारा दबाये नहीं जाते तब तक भला क्या वे कुछ भी दे सकते हैं? (कुछ भी तो नहीं देते)।

टिप्पणी—इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में जो उक्ति की गई है उसी की पुष्टि के लिये उत्तरार्द्ध में दूसरी उक्ति प्रस्तुत की गई है। इसके साथ ही यहाँ पर कोई भी पद श्लिष्ट नहीं है। अतः यहाँ पर 'अश्लिष्ट अर्थान्तरन्यास' अलङ्कार है ॥ ९३ ॥

समासोक्तिमाह—

उच्यते वक्तुमिष्टस्य प्रतीतिजनने क्षमम्।
सधर्मं यत्र वस्त्वन्यत्समासोक्तिरियं यथा॥ ६४॥

वक्तुमिष्टस्य भणितुमारब्धस्यार्थस्य प्रतीतिजनने क्षमं प्रतीतेरुत्पादसमर्थं सधर्मं सदृश-मन्यद्वस्तु यत्रोच्यते, इयं समासोक्तिर्भवति॥ ५४॥

विवक्षित अर्थ में प्रीति उत्पन्न करने के लिए जिस अलङ्कार में उस (प्रीति उत्पन्न करने) के योग्य समान धर्मवाले किसी अन्य अर्थ की उक्ति की जाती है उसे समासोक्ति अलङ्कार कहते हैं। यही अन्योक्ति अलङ्कार भी कहा जाता है॥ ५४॥

उदाहरणमाह—

मधुकर मा कुरु शोकं विचर करीरद्रुमस्य कुसुमेषु।
घनतुहिनपातदलिता कथं नु सा मालती मिलति॥ ६५॥

हे मधुकर, शोकं मा कुरु। करीरद्रुमस्य कुसुमेषु विचर इति वक्तुमिष्टोऽर्थः। अस्य प्रतीतिजनने क्षमं सदृशमन्यद्वस्तु वदन्। नु वितर्के। कथं सा मालती मिलति। एतावता मालती नास्ति। करीरकुसुमेषु शोकाभावेन हे भ्रमर! विचर। अत्र द्वयोरपि सादृश्यं पुष्प-त्वात्। निर्भेदत्वादन्यत्वम्। कीदृशी मालती। घनतुहिनापातेन दलिता खण्डिता। यदि सा मालती घनतुहिनपातदलिता जाता तदा किं मिलति॥ ५५॥

रे भ्रमर! शोक मत कर, तू करीरवृक्ष के पुष्पों पर ही विचरण कर क्योंकि सघन तुषारपात के कारण नष्ट-भ्रष्ट वह मालती तुझे कैसे प्राप्त हो सकती है (अर्थात् नहीं प्राप्त हो सकती)।

टिप्पणी—**यहाँ पर विवक्षित मालती के नष्ट पुष्पों की प्रीति के लिये उसके समधर्मी करीलपुष्पों का कथन होने से 'समासोक्ति' अलङ्कार है॥ ५५॥**

विभावनालक्षणमाह—

विना कारणसद्भावं यत्र कार्यस्य दर्शनम्।
नैसर्गिकगुणोत्कर्षभावनात्सा विभावना॥ ६६॥

यत्र कारणसद्भावं विना नैसर्गिकगुणोत्कर्षभावनात्कार्यस्य दर्शनं दृश्यते सा विभा-वना मता॥ ५६॥

जिस अलंकार में किसी कारणविशेष के बिना केवल स्वाभाविक गुणों के उत्कर्ष से ही कार्य का होना प्रकट होता है उसे 'विभावना' कहते हैं॥ ५६॥

उदाहरणम्—

अनध्ययनविद्वांसो निर्द्रव्यपरमेश्वराः ।
अनलङ्कारसुभगाः पान्तु युष्माञ्जिनेश्वराः ॥ ९७ ॥

अत्र विद्वत्ता कार्यं कारणं त्वध्ययनम्। कार्यं कारणं विनापि सहजगुणेनैव जातम्। एवं पादद्वयेऽपि भावनीयम्। उक्तो विभावनालङ्कारः ॥ ९७ ॥

वे भगवान् 'जिन' आप लोगों की रक्षा करें जो विशेष अध्ययन के बिना ही विद्वान् हैं, बिना द्रव्य के ही ऐश्वर्यवान् हैं और बिना अलंकारों के भी सुन्दर शरीर वाले हैं।

टिप्पणी—यहाँ पर अध्ययन, द्रव्य और अलङ्कारों के बिना भी जिन भगवान् की विद्वता, ऐश्वर्य और सौन्दर्य उनके स्वाभाविक गुणों के कारण ही बताये गये हैं। अत एव यह 'विभावना' अलंकार का उदाहरण हुआ ॥ ९७ ॥

दीपकलक्षणमाह—

आदिमध्यान्तवर्त्येकपदार्थेनार्थसङ्गतिः ।
वाक्यस्य यत्र जायेत तदुक्तं दीपकं यथा ॥ ९८ ॥

यत्रादिमध्यान्तवर्त्येकपदार्थेन क्रियारूपेण वा वाक्यार्थसङ्गतिर्जायेत तद्दीपकमुक्तम् ॥९८॥

जिस स्थान पर आदि, मध्य अथवा अन्त में रहने वाली एक क्रिया से वाक्य का सम्बन्ध उत्पन्न होता है, वहाँ पर 'दीपक' अलकार माना जाता है ॥ ९८ ॥

उदाहरणान्याह—

जगुस्तव दिवि स्वामिन्गन्धर्वाः पावनं यशः ।
किन्नराश्च कुलाद्रीणां कन्दरेषु मुहुर्मुदा ॥ ९९ ॥

हे स्वामिन्, दिव्याकाशे गन्धर्वास्तव पावनं यशो जगुः। किन्नराः कुलाचलकन्दरेषु जगुः। मुदा हर्षेण मुहुर्वारंवारम्। अत्राप्येकपदार्थेन जगुरिति रूपेण वाक्यार्थसङ्गतिर्जाता ॥ ९९ ॥

हे स्वामिन्! गन्धर्वादि देवताओं ने स्वर्गलोक में और किन्नरों ने कुलपर्वतों की गुहाओं में बार-बार आप के पावन यश का गान किया।

टिप्पणी—यहाँ पूर्वार्द्ध के आदि में प्रयुक्त 'जगुः' क्रिया से सम्पूर्ण श्लोक का सम्बन्ध होने से 'दीपक' अलङ्कार है ॥ ९९ ॥

एवं मध्यान्तयोरपि। सर्वत्र यथा—

विराजन्ति तमिस्राणि द्योतन्ते दिवि तारकाः ।
विभान्ति कुमुदश्रेण्यः शोभन्ते निशि दीपकाः ॥ १०० ॥

अत्र पृथक्-पृथक् क्रियातिरेक एव पदार्थे एक एवार्थो नार्थभेदः। निशीत्येतत्कारकं दीपकम् ॥ १०० ॥

रात्रि में अन्धकार छाया हुआ है, तारागण आकाश में झिलमिला रहे हैं, कुमुदिनी के पुष्प विकसित हो रहे हैं और दीपक शोभायमान हो रहे हैं।

टिप्पणी—'रात्रि में अन्धकार छाया हुआ है' इत्यादि चारों वाक्यों का अर्थ 'निशि' शब्द से सम्बन्धित है। अतः यहाँ 'दीपक' नामक अलंकार है ॥ १०० ॥

अतिशयालङ्कारमाह—

वस्तुनो वक्तुमुत्कर्षमसम्भाव्यं यदुच्यते।
वदन्त्यतिशयाख्यं तमलङ्कारं बुधा यथा ॥ १०१ ॥

यद्वस्तुन उत्कर्षं वक्तुमसम्भाव्यमुच्यते सोऽतिशयालङ्कारः ॥ १०१ ॥

वर्णनीय वस्तु के उत्कर्ष को प्रकट करने के लिये जहाँ किसी असम्भव अर्थ का वर्णन किया जाता है वहाँ पर 'अतिशय' अलङ्कार समझना चाहिये ॥१०१॥

उदाहरति—

त्वद्वारितारितरुणीश्वसितानिलेन सम्मूर्छितोर्मिषु महोदधिषु क्षितीश।
अन्तर्लुठद्गिरिपरस्परशृङ्गसङ्गघोरारवैर्मुररिपोरपयाति निद्रा ॥ १०२ ॥

हे क्षितीश, त्वद्वारितारितरुणीश्वसितानिलेन श्वासवायुना महोदधिषु समुद्रेषु सम्मूर्छितोर्मिषूत्पन्नकल्लोलेषु सत्सु अन्तर्मध्ये लुठन्तो घोलन्तो चलन्तो गिरयस्तेषां परस्परं शृङ्गसङ्गस्तस्य घोरैरारवैर्मुरारेर्निद्रा अपयाति। अत्र रिपुस्त्रीणां श्वासानिलस्यातिशयवर्णनादतिशयालङ्कारः ॥ १०२ ॥

हे राजन्! आपके द्वारा मारे हुये शत्रुओं की पत्नियों के अन्तर से निकले हुए शोकोच्छ्वास की वायु से मूर्च्छित लहरों से परिपूर्ण समुद्र के अन्तस्तल में लुढ़कते हुये पर्वतों के शिखरसमूह में परस्पर संघर्षण होने से घोर शब्द उत्पन्न होता है जिसके कारण समुद्र में शयन करने वाले मधुसूदन भगवान् विष्णु की निद्रा भङ्ग हो जाती है।

टिप्पणी—यहाँ पर राजा के द्वारा शत्रु-संहार करने से उन (राजाओं) की पत्नियों के शोकोच्छ्वास से लहरों का मूर्च्छित हो जाना और सागर में पर्वतों का लुढ़कना तथा उनकी शृंगावलियों में परस्पर रगड़ से ऐसा भीषण शब्द उत्पन्न होना जिससे भगवान् विष्णु की निद्रा भङ्ग हो जाय, असम्भाव्य है। यह केवल राजा के शौर्य और पराक्रम को दिखाने के लिये ही वर्णन किया गया है। इससे यहाँ पर 'अतिशय' नामक अलङ्कार है ॥ १०२ ॥

यदियोगेऽतिशयालङ्कारमाह--

एकदण्डानि सप्त स्युर्यदिच्छत्राणि पर्वते।
तदोपमीयते पार्श्वमूर्ध्नि सप्तफणः फणी॥ १०३॥

यदि पर्वते पर्वतशिखरे एकदण्डानि सप्तच्छत्राणि भवन्ति। तदा सप्तफणः फणी पार्श्वमूर्ध्नि उपमीयते। अत्र फणिनोऽतिशय उक्तः। एको दण्डो येषु तान्येकदण्डानि॥ १०३॥

यदि पर्वत पर सात छत्र हों जिनका दण्ड हो केवल एक, तो उस (छत्र) से पार्श्वनाथ के मस्तक पर रहने वाले सात फणों से युक्त सर्प की उपमा दी जा सकती है। नहीं तो यह अनुपम है।

टिप्पणी—यहाँ पार्श्वनाथ के शीश पर रहने वाले सर्प की अद्वितीयता को प्रदर्शित करने के लिये पर्वत पर एकदण्डयुक्त सात छत्रों का असम्भाव्य वर्णन होने से 'अतिशय' अलङ्कार है॥ १०३॥

हेत्वलङ्कारमाह—

यत्रोत्पादयतः किञ्चिदर्थं कर्तुः प्रकाश्यते।
तद्योग्यतायुक्तिरसौ हेतुरुक्तो बुधैर्यथा॥ १०४॥

कर्तुः पुरुषस्य किञ्चिदर्थमुत्पादयतो यत्र तद्योग्यतायुक्तिस्तस्यार्थस्य योग्यतायुक्तिः प्रकाश्यते स हेतुरलङ्कारः॥ १०४॥

जिस अलङ्कार में किसी अर्थ को उत्पन्न करने वाले कर्ता की योग्यता की युक्ति का प्रकाश किया जाता है उसको 'हेतु' कहते हैं॥ १०४॥

उदाहरति—

जुव्वणसमउम्मत्ता तत्ता विरहेण कुणइ णाहस्स।
कण्ठब्भन्तरघोलिरमहुरसरं बालिआ गीअं॥ १०५॥

[यौवनसमयोन्मत्ता तप्ता विरहेण करोति नाथस्य।
कण्ठाभ्यन्तरघोलितमधुरस्वरं बालिका गीतम्॥]

बालिका यौवनसमयोन्मत्ता सती नाथस्य भर्तुर्विरहेण तप्ता सती कण्ठाभ्यन्तरघोलन्मधुरस्वरं गीतं करोति। कण्ठाभ्यन्तर एव घोलति गीतं लज्जया बहिर्न प्रकटयतीत्यर्थः। अत्र कर्तुः किञ्चिदर्थमुत्पादयत इति कर्तृरूपाया बालिकाया गीतमिति उत्पादितोऽर्थस्तस्य योग्यता युक्तिः। नाथस्य विरहः यौवनसमयोन्मत्ता च गीतस्य हेतुः कारणमेतदिति गाथार्थः॥ १०५॥

यौवनावस्था से उन्मत्त और प्रिय के विरहानल से झुलसी हुई बालिका ऐसा गीत गा रही है जिसका मधुर स्वर उस (बालिका) के कण्ठ में ही रस घोलकर रह जाता है (दूसरों को नहीं सुनाई पड़ता है)।

टिप्पणी—कर्णरूप नवयौवना बाला के गान में युक्ति और विरह के कारण गीत पूरा पढ़ने से यहाँ पर 'हेतु' अलङ्कार माना गया है ॥ १०५ ॥

विससोअरो मिअङ्को कअन्तआसाइ आगओ पवणो ।
जाइपलासो सिहरी पहिए मारन्ति ते दाणिं ॥ १०६ ॥

[विषसोदरो मृगाङ्कः कृतान्तदिश आगतः पवनः ।
जातिपलाशः शिखरी पथिकान्मारयन्त्येत इदानीम् ॥]

मृगाङ्को विषसोदरः । चन्द्रविषयोरेकत्रोत्पन्नत्वात् । कृतान्तदिश आगतः पवनः । शिखरी वृक्षो जातिपलाशः, एते त्रयोऽपि पथिकानिदानीं मारयन्ति । अत्र मरणस्य हेतुरसौ । एको विषसोदरः, अन्यो यमाशानिवासी । अपरस्तु पलाशः पक्षी वृक्षः ॥ १०६ ॥

विष का सहोदर चन्द्रमा (क्योंकि दोनों की उत्पत्ति समुद्रमन्थन के समय समुद्र से हुई थी), यम की दिशा (दक्षिण) से आती हुई वायु और नवीन पत्तों से लदा हुआ (अथवा जो मांस का अभिलाषी है) वृक्ष—ये तीनों पथिकों का संहार करते हैं ।

टिप्पणी—विष का सहोदर होने के कारण चन्द्रमा में मार डालने की क्षमता, दक्षिण दिशा से आने के कारण वायु में मारने का सामर्थ्य और नवीन पत्तों से लदे होने के कारण वृक्ष के द्वारा मारा जाना हेतुयुक्त है । अतएव यहाँ पर 'हेतु' अलङ्कार है ॥ १०६ ॥

पर्यायोक्तिलक्षणमाह—

अतत्परतया यत्र जल्प(ल्प्य)मानेन वस्तुना ।
विवक्षितं प्रतीयेत पर्यायोक्तिरियं यथा ॥ १०७ ॥

पर्यायेणान्यवचनेन वचनमुक्तिः पर्यायोक्तिः । अत्र विवक्षितं वक्तुमिष्टं अतत्परतया न विवक्षितपरतया जल्प(ल्प्य)मानेन वस्तुनार्थेन प्रतीयेत इयं पर्यायोक्तिः ॥ १०७ ॥

जहाँ विवक्षित अर्थ के प्रतिपादक शब्दों के न रहने पर भी विवक्षित अर्थ का बोध हो जाता है वहाँ 'पर्यायोक्ति' अलङ्कार माना जाता है ॥ १०७ ॥

पर्यायोक्तिमुदाहरति—

त्वत्सैन्यवाहनिवहस्य महाहवेषु द्वेषः प्रभो रिपुपुरन्ध्रिजनस्य चासीत् ।
एकः खुरैर्बहुलरेणुततिं चकार तां संजहार पुनरश्रुजलैर्यदन्यः ॥ १०८ ॥

हे प्रभो, रणेषु त्वत्सैन्यवाहनिवहस्य रिपुपुरन्ध्रिजनस्य च द्वेष आसीत् । एको वाहसमूहः खुरैर्बहुलरेणुततिं चकार । अन्यो योषाजनो यत्पुनरश्रुजलैस्तां रेणुततिं संजहार । अत्र विवक्षितोऽर्थो द्वेषः । अस्य जल्प(ल्प्य)मानेनार्थेन रेणुना अश्रुजलेन च प्रतीतिर्न विवक्षितपरतया यतो भवता रिपवो मारिता इत्येतद्येन प्रतीयेत सा अतत्परा ॥ १०८ ॥

हे प्रभो ! घोर संग्राम में आपकी सेना के अश्वसमूह और वैरिपत्नियों में द्वेष-सा हो गया है क्योंकि एक (अश्वसमूह) अपने पाद-प्रहार से अत्यधिक धूलि को छिड़का देता है किन्तु वैरिपत्नियाँ उसे अपने अश्रुओं से धो डालती हैं।

टिप्पणी—यहाँ पर शत्रुसंहाररूप विवक्षित अर्थ की प्रतीति उनकी स्त्रियों के अश्रुपात-वर्णन से हो जाती है। इसीलिये यह 'पर्यायोक्ति' अलङ्कार का उदाहरण हुआ ॥ १०८ ॥

समाहितं लक्षयति—

कारणान्तरसम्पत्तिर्दैवादारम्भ एव हि ।
यत्र कार्यस्य जायेत तज्जायेत समाहितम् ॥ १०९ ॥

यत्र कार्यस्यारम्भे एव दैवात्कारणान्तरसम्पत्तिर्जायेत तत्समाहितं जायेत ॥ १०९ ॥

जिस अलङ्कार में एक कार्य के आरम्भ होते ही भाग्यवशात् (उस कार्य में सहायता करने वाला) अन्य कारण भी घटित हो जाता हो उसे 'समाहित' कहते हैं ॥ १०९ ॥

उदाहरति—

मनस्विनी वल्लभवेश्म गन्तुमुत्कण्ठिता यावदभून्निशायाम् ।
तावन्नवाम्भोधरधीरनादप्रबोधितः सौधशिखी चुकूज ॥ ११० ॥

यावन्मनस्विनी निशायां वल्लभवेश्म गन्तुमुत्कण्ठिताभूत्, तावन्नवाम्भोधरधीरनादप्रबोधितः सौधशिखी गृहक्रीडामयूरश्चुकूज केकां चकार। कान्तगृहे गमनकार्यारम्भः पुनस्तत्प्रेरकः शिखिशब्दः कारणान्तरसम्पत्तिः ॥ ११० ॥

मानिनी नायिका रात्रि में जिस समय प्रियतम के घर जाने को उत्सुक हुई, उसी समय नवमेघ-गर्जन से आनन्दित होकर प्रासाद में रहने वाले मोर भी कूज उठे।

टिप्पणी—मानिनी नायिका स्वयं ही मान त्यागकर पति के समीप जाने को उत्कण्ठित हुई थी कि इतने में वर्षाकाल की सूचना देनेवाले मेघ भी घन-गर्जन कर उठे जिससे उसकी मानभङ्ग करा देने वाली कामातुरता और भी बढ़ गयी। यहाँ मान-भङ्गरूप कार्य में दैवयोग से हुये घनगर्जन और मोरों की काकली के सहायक हो जाने से 'समाहित' अलङ्कार है ॥ ११० ॥

परिवृत्तिं लक्षयति—

परिवर्तनमर्थेन सदृशासदृशेन वा ।
जायतेऽर्थस्य यत्रासौ परिवृत्तिर्मता यथा ॥ १११ ॥

यत्रार्थस्य सदृशेनासदृशेन वा अर्थेन परिवर्तनं परिवर्तो जायते असौ परिवृत्तिर्मता। यथेत्युदाहरणे ॥ १११ ॥

जिस अलङ्कार में सदृश अथवा असदृश अर्थ के कारण विवक्षित अर्थ में परिवर्तन हो जाता है, उसे 'परिवृत्ति' कहते हैं ॥ १११ ॥

अन्तर्गतव्यालफणामणीनां प्रभाभिरुद्भासितभूषु भर्तः ।
स्फुरत्प्रदीपानि गृहाणि मुक्त्वा गुहासु शेते त्वदरातिवर्गः ॥ ११२ ॥

हे भर्तः, त्वदरातिवर्गस्तव वैरिसमूहः स्फुरत्प्रदीपानि गृहाणि मुक्त्वा गुहासु शेते। कीदृशीषु गुहासु । अन्तर्गतव्यालफणामणीनां मध्यस्थसर्पफणामणीनां प्रभाभिरुद्भासितभूमिषु दीप्तभूमिषु ॥ ११२ ॥

हे राजन् ! दीपकों से जगमगाते हुए घरों को छोड़कर आपके शत्रुगण सर्प के फणों में रहनेवाले मणियों की कान्ति से प्रकाशमान् पृथ्वी की कन्दराओं में शयन करने को भाग जाते हैं।

टिप्पणी—दीपों से प्रकाशित घरों को उनके समान सर्प-मणि की कान्तियुक्त कन्दराओं में परिवर्तन कर देने से यहाँ सादृश्यरूप 'परिवृत्ति' अलङ्कार है ॥ ११२ ॥

असादृश्येनार्थस्य परावर्तमाह—

दत्त्वा प्रहारं रिपुपार्थिवानां जग्राह यः संयति जीवितव्यम् ।
शृङ्गारभङ्गी च तदङ्गनानामादाय दुःखानि ददौ सदैव ॥ ११३ ॥

प्रहारं दत्त्वा जीवितव्यं जग्राह । अत्र दत्तः प्रहारः, गृहीतं च जीवितव्यम्, गृहीता शृङ्गारभङ्गी, दत्तं च तासां दुःखम्, इत्यसदृशेनार्थेनार्थस्य परावर्तो जनितः ॥ ११३ ॥

उस (राजा) ने संग्राम में विपक्षी राजाओं को प्रहार देकर उनके प्राणों को ले लिया और उन (विपक्षी राजाओं) की रानियों की शृङ्गारसज्जा को छीन कर सदैव उन्हें दुःख ही दुःख दिया।

टिप्पणी—प्रहार देकर उसके बदले उसके असमान प्राणों को ले लेने और शृङ्गार-सज्जा को छीन कर उसके स्थान में उससे भिन्न दुःखों को देने के वर्णन से यहाँ असादृश्यरूप 'परिवृत्ति' अलङ्कार माना गया है ॥ ११३ ॥

यथासंख्यं लक्षयति—

यत्रोक्तानां पदार्थानामर्थाः सम्बन्धिनः पुनः ।
क्रमेण तेन बध्यन्ते तद्यथासङ्ख्यमुच्यते ॥ ११४ ॥

यत्रोक्तानां पदार्थानां सम्बन्धिनोऽर्थाः पुनस्तेन क्रमेण बध्यन्ते योज्यन्ते तद् यथासंख्यमुच्यते ॥ ११४ ॥

जिस अलङ्कार में कहे हुए पदार्थों से सम्बन्धित अर्थों का फिर उसी क्रमबद्ध ढङ्ग से वर्णन होता है उसको 'यथासंख्य' कहते हैं ॥ ११४ ॥

उदाहरति—

मृदुभुजलतिकाभ्यां शोणिमानं दधत्या चरणकमलभासा चारुणा चाननेन।
बिसकिसलयपद्मान्यात्तलक्ष्मीणि मन्ये विरहविपदि वैरात्सन्वते तापमङ्गे॥

अहमेवं मन्ये—मृदुभुजलतिकाभ्यां शोणिमानं दधत्या रक्तत्वं बिभ्रत्या चरणकमलभासा चारुणा चाननेन यथाक्रमं बिसकिसलयपद्मानि आत्तलक्ष्मीणि कृतानि। अत एव तानि वैरादङ्गे तापं विरहविपदि तन्वते। विरहिणीवर्णनमेतत्। एष यथासंख्यालङ्कारः॥११५॥

(नायिका की) कोमल भुजलताओं, लालिमायुक्त चरणों की आभा और सुन्दर मुख ने क्रमशः बिसतन्तु, कमलपत्र और पद्मों की सुन्दरता को छीन लिया है। इसीलिये वैरभाव उत्पन्न हो जाने के कारण विरह-विपत्ति में ये (बिसतन्तु, कमलपत्र और पुष्पादि) अवसर पाकर नायिका के शरीर को तपाने लगते हैं।

टिप्पणी—यहाँ भुजलता, लालिमामय चरण और मुख से सम्बन्ध रखने वाले बिसतन्तु, कमलपत्र और कमलपुष्प का एक ही क्रम से वर्णन होने के कारण 'यथासंख्य' अलङ्कार है॥ ११५॥

सहोक्तिं लक्षयति—

वस्तुनो यत्र सम्बन्धमनौचित्येन केनचित्।
असम्भाव्यं वदेद्वक्ता तमाहुर्विषमं यथा॥ ११६॥

यत्र केनचिदनौचित्येनानवसरतया वस्तुनः पदार्थस्य सम्बन्धमसम्भाव्यं वक्ता वदेत्, कवयस्तं विषमालङ्कारमाहुः। यथोदाहरणार्थः॥ ११६॥

जिस अलङ्कार में वक्ता दो वस्तुओं के असम्भव सम्बन्ध का किसी अनुचित ढङ्ग से वर्णन करता है उसे 'विषम' कहते हैं॥ ११६॥

क्वेदं तव वपुर्वत्से कदलीगर्भकोमलम्।
क्वायं राजीमति क्लेशदायी व्रतपरिग्रहः॥ ११७॥

हे वत्से, राजीमति, कदलीगर्भकोमलं तव वपुः क्वायं च क्लेशदायी व्रतपरिग्रहः। अत्र सुकोमलस्य तव वपुषो दीक्षानुचिता। दीक्षासंबन्धः। तथासंभाव्यं कथं वदसि ग्रहीष्यामि दीक्षामिति। विषमालंकारोऽयम्॥ ११७॥

हे राजीमति! हे पुत्रि!! कहाँ तो कदली के अन्तरतम की भाँति कोमल तुम्हारा शरीर और कहाँ यह क्लेशोत्पादक उपवासादि व्रतों का आचरण करना!

टिप्पणी—यहाँ कोमल शरीर के साथ असम्भाव्य कठोर व्रतपालन का अनुचित सम्बन्ध करने से विषमालङ्कार है॥ ११७॥

सहोक्तिं कथयति—

सहोक्तिः सा भवेद्यत्र कार्यकारणयोः सह ।
समुत्पत्तिकथा हेतोर्वक्तुं तज्जन्मशक्तताम् ॥ ११८ ॥

यत्र हेतोः कारणस्य तज्जन्मशक्ततां कार्योत्पत्तिशक्ततां वक्तुं कार्यकारणयोः सह समुत्पत्तिकथा समकालसमुत्पादनवार्ता भवति सा सहोक्तिर्भवेत् ॥ ११८ ॥

जिस अलङ्कार में किसी कारण से उत्पन्न कार्य में उस (कारण) की शक्ति को दिखलाने के लिये कार्य और कारण का एक साथ ही वर्णन किया जाता है उसे 'सहोक्ति' कहते हैं ॥ ११८ ॥

उदाहरति—

आदत्ते सह यशसा नमयति सार्धं मदेन सङ्ग्रामे ।
सह विद्विषां श्रियासौ कोदण्डं कर्षति श्रीमान् ॥ ११९ ॥

असौ श्रीमान्वीरः कोदण्डं धनुर्विद्विषां मदेन सह नमयति । विद्विषां श्रिया लक्ष्म्या शोभया वा सह कोदण्डं कर्षति । अत्र यश आदत्त इति कार्यम् । कोदण्डग्रहणं तु यशोग्रहणकारणम् । कारणस्य कोदण्डस्य तज्जन्मनि कार्योत्पत्तौ यशोग्रहणरूपायां शक्तिरस्ति । एवं सर्वत्र योजना स्वमत्या कर्तव्येति ॥ ११९ ॥

यह श्रीसम्पन्न राजा संग्राम में विद्वेषियों के यश (छीनने) के साथ ही धनुष को धारण करता है, उन (शत्रुओं) के अभिमान (को चूर करने) के साथ ही उस (धनुष) को झुकाता है और उन (शत्रुओं) के धन (को अपहरण करने) के साथ ही उस (धनुष) को भी खींचता है ।

टिप्पणी—यहाँ धनुष धारण करना इत्यादि कारण से उत्पन्न यशादि के अपहरण में (धनुषधारणादि) हेतु के सामर्थ्य को दिखलाने से 'सहोक्ति' अलङ्कार है ॥ ११९ ॥

अथ विरोधलक्षणमाह—

आपाते हि विरुद्धत्वं यत्र वाक्ये न तत्त्वतः ।
शब्दार्थकृतमाभाति स विरोधः स्मृतो यथा ॥ १२० ॥

यत्र वाक्ये आपाते आरम्भे शब्दार्थकृतं विरुद्धत्वं आभाति परं तत्त्वतो नाभाति स विरोधः स्मृतः ॥ १२० ॥

जिस वाक्य के कहने अथवा सुनने से तत्काल ही शब्द अथवा अर्थ में विरोध प्रतीत हो; किन्तु वास्तव में (शब्द अथवा अर्थ में) किसी प्रकार का भी विरोध न हो वहाँ विरोधालङ्कार समझना चाहिये ॥ १२० ॥

उदाहरणमाह—

दुर्वारवाणनिवहेन सुवर्मणापि लोकोत्तरान्वयभुवापि च धीवरेण ।
प्रत्यर्थिषु प्रतिरणं स्खलितेषु तेन संग्राममवाप्य युयुधे पुनरेव जिष्णुः ॥१२१॥

कोऽपि जिष्णुर्जयनशीलस्तेन केनचित्पुरुषेण प्रत्यर्थिषु वैरिषु प्रतिरणं स्खलितेषु रणं रणं प्रति स्खलितेषु संग्राममवाप्य पुनरेव युयुधे युद्धं चकार । कीदृशेन तेन । सुवर्मणापि दुर्वारवाणनिवहेन । वारवाणः कवचं उच्यते । वर्मापि कवचमेव । सुष्ठु वर्म यस्य स सुवर्मा । दुष्टो वारवाणनिवहः कवचसमूहो यस्य स दुर्वारवाणनिवहः । यः सुवर्मा स दुर्वारवाणनिवहः कथं भवति इति विरोधं दर्शयित्वा न तत्तत इत्याह—दुर्वारवाणनिवहेन दुर्वारो वाणनिवहो यस्य स तेन । एतेन तत्र··············। लोकोत्तरान्वयभुवापि धीवरेण यो लोकोत्तरान्वयभूः स कथं धीवरः । धीवरो मतिप्रधान इत्यर्थः । एष शब्दकृतोऽपि विरोधालंकारः ॥ १२१ ॥

उस विजयाभिलाषी ने प्रत्येक संग्राम में शत्रुओं के गिर जाने पर चेतनता को प्राप्त करके अभेद्य कवच से युक्त और श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न उत्तम बुद्धि वाले सुवर्मा के साथ पुनः युद्ध किया ।

टिप्पणी— यहाँ 'दुर्वारवाणनिवहेन' 'सुवर्मणा' का विशेषण है और 'लोकोत्तरान्वयभुवा' 'धीवरेण' का । इन शब्दों को सुनने से विरोध प्रतीत होता है क्योंकि जो दूषित कवच से युक्त है वह सुवर्मा (उत्तम कवच वाला) कैसे हो सकता है ? और जो अच्छे कुल में उत्पन्न हुआ है वह धीवर (कहार) कैसे हो सकता है ? किन्तु इन शब्दों के अर्थ पर ध्यान देने से विरोध का परिहार हो जाता है क्योंकि 'दुर्वारवाणनिवहेन' का अर्थ है अभेद्य कवच न कि दूषित कवच और 'धीवर' शब्द का अर्थ उत्तम बुद्धिवाला है, कहार नहीं । विरोध शब्दों के सुनने से ही प्रतीत होता है, वास्तव में किसी प्रकार का भी विरोध नहीं है । अतः यह शब्दजनित विरोध का उदाहरण है ॥ १२१ ॥

अथार्थकृतं विरोधमाह—

येनाक्रान्तं सिंहासनमरिभूभृच्छिरांसि विनतानि ।
क्षिप्ता युधि शरपङ्क्तिः कीर्तिर्याता दिगन्तेषु ॥ १२२ ॥

येन राज्ञा आक्रान्तं सिंहासनम् । विनतान्यरिभूपालशिरांसि । अहो विरोधः आक्रान्तमन्यत् विनतमन्यत् । तथा क्षिप्ता युधि शरपङ्क्तिः, दिगन्तेषु कीर्तिर्याता । समासो द्विधापि विरोधालङ्कारः ॥ १२२ ॥

जिस राजा के सिंहासन पर पैर रखते ही वैरिराजाओं के मस्तक (पराभव से) झुक गये और उसने युद्ध में बाणों को फेंका नहीं कि उसकी कीर्ति चारों ओर फैल गई ।

टिप्पणी—सिंहासन पर पैर रखने से शत्रु राजाओं के शीश झुक जाने और बाणों के फेंकने के साथ यश के फैलने में प्रकट रूप से तो विरोध प्रतीत होता है, किन्तु अर्थ पर विचार करने से विरोध का परिहार हो जाता है, क्योंकि इससे राजा का पराक्रम और उसकी कीर्ति का ज्ञान होता है ॥ १२२ ॥

अथावसरलक्षणमाह—

यत्रार्थान्तरमुत्कृष्टं सम्भवत्युपलक्षणम् ।
प्रस्तुतार्थस्य स प्रोक्तो बुधैरवसरो यथा ॥ १२३ ॥

यत्र प्रस्तुतार्थस्योत्कृष्टमर्थान्तरमुपलक्षणं चिह्नं संभवति बुधैः सोऽवसरालंकारः प्रोक्तः ॥

जहाँ किसी अर्थ से उत्कृष्टतर कोई दूसरा अर्थ दृष्टान्तरूप से प्रस्तुत किया जाता है वहाँ काव्य-शास्त्र-मनीषी 'अवसर' नामक अलङ्कार मानते हैं ॥ १२३ ॥

अथावसरोदाहरणमाह—

स एष निश्चयानन्दः स्वच्छन्दतमविक्रमः ।
येन नक्तञ्चरः सोऽपि युद्धे बर्बरको जितः ॥ १२४ ॥

स एष निश्चयानन्दो येन सोऽपि बर्बरको राक्षसो युद्धे जितः ॥ १२४ ॥

यह वही राजा है जिसने अखण्ड आनन्द से युक्त और अत्यन्त पराक्रमशील बर्बर जाति के निशाचर पर भी विजय प्राप्त कर ली है।

टिप्पणी—बर्बर जाति के निशाचर का अखण्ड आनन्द और स्वच्छन्द पराक्रम राजा की विजय में और भी उत्कर्ष उत्पन्न कर देता है। अतः यह 'अवसर' अलङ्कार का उदाहरण हुआ ॥ १२४ ॥

अथ सारलक्षणमाह—

यत्र निर्धारितात्सारात्सारं सारं ततस्ततः ।
निर्धार्यते यथाशक्ति तत्सारमिति कथ्यते ॥ १२५ ॥

यत्र निर्धारितात्सारात्ततस्ततः सारं सारं निर्धार्यते । यथाशक्ति यथाशक्त्या स सारालंकारः ॥ १२५ ॥

जिस काव्य में प्रतिपादित तथ्य से अन्य सारयुक्त तथ्य का यथाशक्ति निरूपण किया जाता है उसमें 'सार' नामक अलङ्कार बतलाया जाता है ॥ १२५ ॥

सारमुदाहरति—

संसारे मानुष्यं सारं मानुष्यके च कौलीन्यम् ।
कौलीन्ये धर्मित्वं धर्मित्वे चापि सदयत्वम् ॥ १२६ ॥

इस संसार में यदि कुछ भी सार वस्तु है तो वह है मनुष्यत्व, और मनुष्यत्व का सार है कुलीनता (सुकुलोत्पत्ति), धर्म में आस्था ही कुलीनता का सार है और धार्मिकता का एकमात्र तत्त्व है दयालुता।

टिप्पणी—इस श्लोक में एक प्रतिपादित तथ्य से उत्तरोत्तर वस्तु का सार निरूपित किये जाने के कारण 'सार' अलङ्कार है ॥ १२६ ॥

अथ श्लेषलक्षणमाह—

पदैस्तैरेव भिन्नैर्वा वाक्यं वक्त्येकमेव हि ।
अनेकमर्थं यत्रासौ श्लेष इत्युच्यते यथा ॥ १२७ ॥

यत्रैकमेव वाक्यं तैरेव पदैर्भिन्नैर्वा पदैरनेकमर्थं वक्ति असौ श्लेषालंकार उच्यते ॥१२७॥

जहाँ उन्हीं पदों से अथवा भिन्न पदों से एक ही वाक्य अनेक अर्थों को व्यक्त करता है वहाँ 'श्लेष' अलङ्कार होता है ॥ १२७ ॥

आनन्दमुल्लासयतः समन्तात्करैरसन्तापकरैः प्रजानाम् ।
यस्योदये क्षोभमवाप्य राज्ञो जग्राह वेलां किल सिन्धुनाथः ॥१२८॥

यस्य राज्ञो नृपस्योदये क्षोभमवाप्य किलेति श्रूयते । सिन्धुनाथः सिन्धुदेशाधिपो वेलामङ्गुलिच्छेदादिकां जग्राह । तदाज्ञां गृहीतवानित्यर्थः । कीदृशस्य । असन्तापकरैः करैः प्रजानां समन्तादानन्दमुल्लासयतो वर्धयतः । अथ श्लेषः—यस्य राज्ञश्चन्द्रस्योदये क्षोभमवाप्य सिन्धुनाथः समुद्रो वेलां मर्यादां जग्राह । शीतकरैः करैः किरणैर्लोकानां समन्तात् हर्षमुत्पादयतः । अत्र श्लेषालङ्कारः ॥ १२८ ॥

सुखकारी करों (टैक्सों) के द्वारा प्रजाजनों को सुखी करने वाले उस राजा के अभ्युदय होने पर सिन्धुराज हार मानकर अपनी मर्यादा के भीतर रहने लगा अथवा शीतलता प्रदान करने वाली किरणों के द्वारा समस्त संसार को आनन्दित करने वाले चन्द्रमा के उदित होने पर सागर क्षुब्ध होकर अपने किनारों तक पहुँच गया ।

टिप्पणी—यहाँ 'सिन्धुनाथः' इत्यादि पद ही दो अर्थों का बोध कराते हैं, अतः इस श्लोक में तत्पदश्लेष अलङ्कार है ॥ १२८ ॥

कुर्वन्कुवलयोल्लासं रम्याम्भोजश्रियं हरन् ।
रेजे राजापि तच्चित्रं निशान्ते कान्तिमत्तया ॥ १२९ ॥

चित्रं यो राजा चन्द्रो निशान्ते प्रभाते कान्तिमत्तया कान्तिमत्त्वेन रराज । कुवलयोल्लासं भूवलयोल्लासं कुर्वन् रम्यां शोभनां भोजश्रियं भोजराजलक्ष्मीं हरन् गृह्णन् । एषः भिन्नपदैः श्लेषालङ्कारः ॥ १२९ ॥

वह राजा (कु) पृथ्वी के (वलय) मण्डल को उल्लसित करता हुआ राजा भोज की रमणीक कान्ति का अपहरण करके घर के अन्दर भी अपनी प्रभा के कारण शोभित हुआ यह आश्चर्य है, अथवा चन्द्रमा कुमुदसमूह को मुकुलित करता हुआ कमलों की शोभा को छीन कर रात्रि के अन्तिम प्रहर में भी अपनी आभा के कारण शोभित हुआ यह आश्चर्य है ।

टिप्पणी— यहाँ पर 'कुवलयोल्लास' आदि पदों का खण्ड करने से भिन्न-भिन्न अर्थों का बोध होता है। अतः इसमें भिन्नपदश्लेष है ॥ १२९ ॥

समुच्चयालङ्कारमाह—

एकत्र यत्र वस्तूनामनेकेषां निबन्धनम् ।
अत्युत्कृष्टापकृष्टानां तं वदन्ति समुच्चयम् ॥ १३० ॥

यत्र कविर्वै अनेकेषामत्युत्कृष्टानामत्युत्तमानां अत्यपकृष्टानामतिमध्यमानां वा वस्तूनां पदार्थानामेकत्र निबन्धनं गुम्फनं ग्रन्थनं योजनमित्येकार्थाः । तं समुच्चयं वदन्ति ॥ १३० ॥

जिस अलङ्कार में अत्यन्त उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट वस्तुओं का एक साथ ही वर्णन किया जाता है उसको 'समुच्चय' कहते हैं ॥ १३० ॥

अत्युत्कृष्टसमुच्चयोदाहरणमाह—

अणहिल्लपाटकं पुरमवनिपतिः कर्णदेवनृपसूनुः ।
श्रीकलशनामधेयः करी च रत्नानि जगतीह ॥ १३१ ॥

सर्वोत्तममणहिल्लपाटकं पुरम् । तस्मिन्नवनिपतिः कर्णदेवनृपसूनुः श्रीजयसिंहदेवः । सोऽपि सर्वोत्तमो भूपालेषु । तस्य श्रीकलशनामधेयः करी गजः । एतानीह जगति त्रीणि रत्नानि ॥

अणहिल्लपाटक नामक नगर, कर्णदेव राजा का पुत्र (राजा जयसिंह) और श्रीकलश नामक हाथी—ये तीनों वस्तुएँ इस संसार में रत्नस्वरूप हैं।

टिप्पणी—इसमें अणहिल्लपाटक नगर, राजा जयसिंह और श्रीकलश हाथी—इन तीनों उत्कृष्ट वस्तुओं का एकत्र प्रतिपादन करने से 'समुच्चय' अलङ्कार हुआ ॥

अत्यपकृष्टालङ्कारमाह—

ग्रामे वासो नायको निर्विवेकः कौटिल्यानामेकपात्रं कलत्रम् ।
नित्यं रोगः पारवश्यं च पुंसामेतत्सर्वं जीवतामेव मृत्युः ॥ १३२ ॥

सुगमम् । भावना स्वयमेव विचारणीया । एषोऽत्यपकृष्टसमुच्चयालङ्कारः ॥ १३२ ॥

गाँव में रहना, मूर्ख पति, कुटिल स्त्री, सर्वदा रोगी रहना और परवशता—ये सभी वस्तुएँ मनुष्यों के जीते जी ही मृत्यु के समान हैं।

टिप्पणी—यहाँ गाँव में रहना आदि निकृष्ट वस्तुओं का एक ही साथ वर्णन किया गया है। अतएव यहाँ 'समुच्चय' अलङ्कार है ॥ १३२ ॥

अथाप्रस्तुतप्रशंसामाह—

प्रशंसा क्रियते यत्राप्रस्तुतस्यापि वस्तुनः ।
अप्रस्तुतप्रशंसां तामाहुः कृतधियो यथा ॥ १३३ ॥

यत्राप्रस्तुतस्यापि वस्तुनः प्रशंसा क्रियते कृतधियस्तामप्रस्तुतप्रशंसामाहुः ॥ १३३ ॥

जिस काव्य में वर्णनीय वस्तु से भिन्न अन्य वस्तु की प्रशंसा की जाती है उसमें 'अप्रस्तुतप्रशंसा' नामक अलङ्कार समझना चाहिये ॥ १३३ ॥

अप्रस्तुतप्रशंसोदाहरणमाह—

स्वैरं विहरति स्वैरं शेते स्वैरं च जल्पति ।
भिक्षुरेकः सुखी लोके राजचोरभयोज्झितः ॥ १३४ ॥

कोऽपि दुःखी चिन्तार्तः सन् यतिं संतोषसारं दृष्ट्वेदमुवाच । अत्र तेन दुःखिना भिक्षुप्रशंसा तावत्प्रारब्धा । कोऽपि नास्ति परं दुःखदग्ध एवं विचारयामास इति अप्रस्तुतप्रशंसा ज्ञेया ॥

स्वेच्छा से विचरण करने वाला, स्वेच्छा से सोने वाला और स्वेच्छा से ही बोलने वाला एकमात्र भिखारी ही इस संसार में सुखी है क्योंकि वह (भिखारी) राजा और चोर आदि के भय से मुक्त है ।

टिप्पणी—यहाँ अप्रस्तुत सांसारिक प्राणी की असत्प्रशंसा (निन्दा) की गयी है क्योंकि वह राजचौरादिभय से पीड़ित रहता है; वह न तो स्वतंत्रतापूर्वक विचरण कर सकता है, न सो सकता है और न बोल ही सकता है । अतः इसमें 'अप्रस्तुतप्रशंसा' नामक अलङ्कार माना गया है ॥ १३४ ॥

अथैकावलीलक्षणमाह—

पूर्वपूर्वार्थवैशिष्ट्यनिष्ठानामुत्तरोत्तरम् ।
अर्थानां या विरचना बुधैरेकावली मता ॥ १३५ ॥

पूर्वपूर्वार्थवैशिष्ट्यनिष्ठानां पाश्चात्यार्थविशिष्टतायां तत्पराणामर्थानां या रचना उत्तरोत्तरं सा एकावली मता कथिता ॥ १३५ ॥

पूर्व में आयी हुई वस्तुओं से उत्कृष्ट वस्तुओं की उत्तरोत्तर वर्णना को विद्वज्जन 'एकावली' अलङ्कार कहते हैं ॥ १३५ ॥

एकावल्युदाहरणमाह—

देशाः समृद्धनगरा नगराणि च सप्त भूमिनिलयानि ।
निलयाः सलीलललना ललनाश्चात्यन्तकमनीयाः ॥ १३६ ॥

देशाः समृद्धनगर इत्याद्युदाहरणम् ॥ १३६ ॥

देश वही उत्तम है जिसमें समृद्ध नगर हों, नगर वे ही समृद्ध हैं जिनमें अनेक सप्ततल प्रासाद हों, प्रासाद वे ही उत्तम हैं जिनमें नाना प्रकार की लीलाकलाप में प्रवीणा सुन्दरियाँ रहती हों और सुन्दरियाँ भी वही रमणीया होती हैं जो अत्यन्त लावण्यमयी हों ।

टिप्पणी—यहाँ पूर्व पूर्व में प्रतिपादित देशादि से उत्तरोत्तर श्रेष्ठ नगरादि का वर्णन होने से 'एकावली' अलङ्कार है ॥ १३६ ॥

अथानुमानलक्षणमाह—

प्रत्यक्षाल्लिङ्गतो यत्र कालत्रितयवर्तिनः ।
लिङ्गिनो भवति ज्ञानमनुमानं तदुच्यते ॥ १३७ ॥

यत्र प्रत्यक्षाल्लिङ्गतः कालत्रितयवर्तिनो लिङ्गिनो ज्ञानं भवति तदनुमानमुच्यते । यथा—धूमो लिङ्गं लिङ्गी चाग्निः । लिङ्गस्य धूमस्य दर्शनाल्लिङ्गी अग्निरनुमीयते । अनया रीत्या सर्वत्र ज्ञातव्यम् । एतदनुमानं भवति ॥ १३७ ॥

जिस अलङ्कार में प्रत्यक्ष चिह्न अथवा कारण से भूत, वर्तमान और भविष्य, इन तीनों कालों में होने वाली अदृश्य वस्तु का बोध होता है उसे 'अनुमान' कहते हैं ॥ १३७ ॥

अनुमानोदाहरणमाह—

नूनं नद्यस्तदाभूवन्नभिषेकाम्भसा विभोः ।
अन्यथा कथमेतासु जनः स्नानेन शुद्धयति ॥ १३८ ॥

नूनं विभोर्जिनस्याभिषेकाम्भसा नद्यस्तदाभूवन् अन्यथा एतासु नदीषु जनः स्नानेन कथं शुद्धयति । नदीस्नानेन शुद्धिरेतल्लिङ्गं लिङ्गी च विभोरभिषेकाम्भसा तदाभूवन्निति । एषोऽतीतानुमानालङ्कारः ॥ १३८ ॥

निश्चय ही ये नदियाँ महाराज (ऋषभदेव) को अभिसिञ्चित करने वाले जल से बनी हुयी हैं, अन्यथा इनमें स्नान करने से मनुष्यों की शुद्धि कैसे हो सकती थी ।

टिप्पणी—**प्रत्यक्ष शुद्धिरूप हेतु से अभिसिञ्चन-जल से नदियों के निर्माणरूप भूतकालिक अदृश्य वस्तु का बोध होने के कारण यहाँ 'अनुमान' अलंकार है ॥**

जम्भभित्ककुभि ज्योतिर्यथा शुभ्रं विजृम्भते ।
उदेष्यति तथा मन्ये खलः सखि निशाकरः ॥ १३९ ॥

जम्भभिदिन्द्रस्तस्य ककुब् दिक् पूर्वा तस्यां ज्योतिस्तेजो यथा शुभ्रं श्वेतं विजृम्भते । अहमेवं मन्ये । हे सखि, खलः सन्तापकारी निशाकर उदेष्यतीत्येतद्विरहिण्या सख्युरग्रे उक्तम् । एष भविष्यानुमानालङ्कारः ॥ १३९ ॥

(कोई विरहिणी नायिका अपनी सहेली से कहती है) हे सखि ! जिस समय इन्द्र की दिशा (पूर्वदिशा) में उज्ज्वल ज्योति प्रकाशित होती है, उस समय मैं ऐसा समझती हूँ कि दुष्ट चन्द्रमा का उदय होगा ।

टिप्पणी—**पूर्वदिशा में ज्योत्स्ना के प्रकाश से भविष्य में चन्द्रोदय का बोध होने के कारण यहाँ पर 'अनुमान' अलङ्कार है ॥ १३९ ॥**

मुखप्रभाबाधितकान्तिरस्या दोषाकरः किङ्करतां बिभर्ति ।
तल्लोचनश्रीहृतिसापराधान्यब्जानि नो चेत्किमयं क्षणोति ॥ १४० ॥

दोषाकरश्चन्द्रोऽस्या नायिकायाः किङ्करतां बिभर्ति कर्मकरतां याति । कीदृशः । मुखप्रभाबाधितकान्तिः । नो चेद्यदि नैवम् । अयं चन्द्रस्तल्लोचनश्रीहृतिसापराधानि तासां लोच-

नयनशोभाहरणेन सापराधानि कमलानि किं क्षणोति सङ्कोचयति । अन्योऽपि सेवको निजाधिपतेरपराधकारिणमन्यं दासो सन् न सहत इत्यर्थः । एष वर्तमानानुमानालङ्कारो ज्ञातव्यः ॥१४०॥

इस (नायिका) की मुख-कान्ति से पराजित होकर चन्द्रमा ने इस (नायिका) की दासता को स्वीकार कर लिया है । यदि ऐसा न होता तो वह चन्द्रमा नायिका के नेत्रों की आभा को चुरा लेने वाले अपराधी कमलों को क्यों दण्ड देता (मुरझा देता) ! (स्वामी के प्रति किये गये अपराध का प्रतीकार तो केवल उसका सेवक ही करता है, अन्य व्यक्ति नहीं ।)

टिप्पणी—यहाँ कमलों को मुरझा देने के कारण वर्तमान में होने वाली चन्द्रमा की दासता का बोध होने से 'अनुमान' अलङ्कार है ॥ १४० ॥

अथ परिसंख्यामाह—

> यत्र साधारणं किञ्चिदेकत्र प्रतिपाद्यते ।
> अन्यत्र तन्निवृत्त्यै सा परिसङ्ख्योच्यते यथा ॥ १४१ ॥

यत्र कविना किञ्चित्साधारणं वस्तु एकत्र तन्निवृत्त्यै प्रतिपाद्यते । यद्वस्तु एकत्र एकस्मिन्स्थाने भवति अन्यत्र तन्निवृत्तिर्भवति सा परिसंख्या समुच्यते ॥ १४१ ॥

जिस अलङ्कार में किसी साधारण वस्तु का एक स्थान के अतिरिक्त अन्य स्थानों में निषेध करने के लिये उसी (एक स्थान) में ही वर्णन किया जाता है उसको बुद्धिमान् लोग 'परिसंख्या' कहते हैं ॥ १४१ ॥

परिसंख्योदाहरणम्—

> यत्र वायुः परं चौरः पौरसौरभसम्पदाम् ।
> युवानश्च कृतक्रोधाद्वै बिभ्युर्वधूजनात् ॥ १४२ ॥

यत्र पुरे वायुः परं केवलं पौरसौरभसम्पदां चौरः । अन्यत्र चौरिका नास्ति । यत्र युवानः कृतरोषाद्वधूजनाद्बिभ्युः । नान्यत्र भयं कस्यापीत्यर्थः ॥ १४२ ॥

जिस नगर में महलों (में रहने वाली कामिनियों) की सुगन्धि को अपहरण करने वाला एकमात्र वायु ही चोर है (और कोई भी व्यक्ति चोरी नहीं करता) उस नगर के निवासी केवल क्रोधित हुई रमणियों से ही भयभीत होकर (और राज, चोरादि से निर्भीक होकर) रहते हैं

टिप्पणी—यहाँ पर चौरकर्म को सभी स्थानों से हटाकर वायु में और भय को व्याघ्रादि से दूर करके केवल रमणियों में बतलाने से 'परिसंख्या' अलङ्कार है ॥१४२॥

अथ प्रश्नोत्तरालङ्कार सङ्करोदाहरणं चाह—

> प्रश्ने यत्रोत्तरं व्यक्तं गूढं वाप्यथवोभयम् ।
> प्रश्नोत्तरं तयोरुक्तानां संसर्गः सङ्करं विदुः ॥ १४३ ॥

यत्र प्रश्ने उत्तरं व्यक्तं गूढं वापि । अथवा उभयं व्यक्तगूढात्मकम् । एतत् प्रश्नोत्तरं ज्ञेयम् । यत्र यथोक्तानां शब्दार्थानामलङ्काराणामुक्तानामेकत्र दधिक्षीरादिसंसर्गो भवनं स सङ्करालङ्कारः ॥ १४३ ॥

जिस अलङ्कार में किसी प्रश्न का उत्तर व्यक्त रूप से, अव्यक्त रूप से अथवा व्यक्ताव्यक्त रूप से रहता है, उसे 'प्रश्नोत्तर' कहते हैं; और जहाँ उपर्युक्त अलङ्कारों का सम्मिश्रण होता है वहाँ 'संकर' नामक अलङ्कार समझना चाहिये ॥ १४३ ॥

प्रश्नोत्तरोदाहरणमाह—

> अस्मिन्नपारसंसारसागरे मज्जतां सताम् ।
> किं समालम्बनं साधो रागद्वेषपरिक्षयः ॥ १४४ ॥

हे साधो, अस्मिन्नपारसंसारसागरे निमज्जतां समालम्बनं किमिति प्रश्ने व्यक्तमुत्तरम्—रागद्वेषपरिक्षयः । एष व्यक्तप्रश्नोत्तरालङ्कारः ॥ १४४ ॥

हे महात्मन् ! इस अपार संसार-सागर में डूबने वाले सज्जनों को कौन-सा आश्रय है ? रागद्वेषादि का नाश ही उनके लिए एकमात्र अवलम्ब है ।

टिप्पणी—यहाँ पर एक ही श्लोक में प्रश्न और उसका उत्तर स्पष्ट है । अतः यह व्यक्त उत्तर वाला 'प्रश्नोत्तर' अलङ्कार है ॥ १४४ ॥

> क्व वसन्ति श्रियो नित्यं भूभृतां वद कोविद ।
> असावतिशयः कोऽपि यदुक्तमपि नोह्यते ॥ १४५ ॥

हे कोविद, वद भूभृतां राज्ञां श्रियो नित्यं क्व वसन्ति । असौ अतिशयः कोऽपि यत् उक्तमपि न ज्ञायते । असौ खड्गे—इत्युत्तरम् । एष गूढप्रश्नोत्तरालङ्कारः ॥ १४५ ॥

हे विद्वन् ! बताओ तो राजाओं की लक्ष्मी सदैव कहाँ रहती है ? यह (असौ) प्रश्न बड़ा कठिन है जो उत्तर मिलने पर भी समझ में नहीं आता ।

टिप्पणी—यहाँ 'असौ' का अर्थ है 'वह' और 'तलवार में' ('असि' शब्द से सप्तमी विभक्ति लगने पर 'असौ' रूप बनता है) । उत्तर देने वाले व्यक्ति का तात्पर्य है कि राजाओं की लक्ष्मी तलवार में रहती है । किन्तु 'असौ' शब्द का 'वह' अर्थ निकलने से उत्तर सन्दिग्ध ही रहता है । अतः यह गूढप्रयुक्त 'प्रश्नोत्तर' अलङ्कार है ॥ १४५ ॥

> किमैभं श्लाघ्यमाख्याति पक्षिणं कः कुतो यशः ।
> गरुडः कीदृशो नित्यं दानवारिविराजितः ॥ १४६ ॥

ऐभं श्लाघ्यं किम्, दानवारि मदजलम् । पक्षिणं क आख्याति, विः पक्षी । यशः कुतो भवति, आजितः संग्रामात् । गरुडो नित्यं कीदृग्भवति, दानवारिविराजितो दानवारिर्विष्णुस्तद्व्यवधानेन विराजितः शोभितः । अत्र भागद्वयात्मकव्यक्तगूढव्यक्तप्रश्नोत्तरालङ्कारः ॥ १४६ ॥

हाथी की कौन-सी वस्तु प्रशंसनीय है ? मदजल; पक्षिशब्द का बोधक कौन शब्द है ? 'वि' शब्द; यश किससे प्राप्त होता है ? 'युद्ध से'; और गरुड़ सदैव कैसा रहता है ? दैत्यों के वैरी विष्णु से सुशोभित ।

टिप्पणी—यहाँ पर उपर्युक्त चारों प्रश्नों में किसी का उत्तर स्पष्ट है और किसी का अस्पष्ट । जैसे 'गरुड़ कैसा रहता है' इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है कि वह (गरुड़) दानवों के वैरी विष्णु से शोभित रहता है । किन्तु शेष तीनों प्रश्नों का उत्तर गूढ़ है । अतः यह व्यक्ताव्यक्त प्रश्नोत्तर अलङ्कार का उदाहरण है ॥ १४६ ॥

इदानीं ग्रन्थकार एतदलंकारकर्तृत्वख्यापनाय वाग्भटाभिधस्य महाकवेर्महामात्यस्य नाम गाथयैकया निदर्शयति—

बम्भण्डसुत्तिसम्पुडमुक्तिअमणिणो पहासमूह व्व ।
सिरिवाहड त्ति तणओ आसि बुहो तस्स सोमस्स ॥ १४७ ॥
[ब्रह्माण्डशुक्तिसम्पुटमौक्तिकमणेः प्रभासमूह इव ।
श्रीवाहड इति तनय आसीद्बुधस्तस्य सोमस्य ॥]

तस्याप्यत्र गाथायामनिर्दिष्टस्य श्रीवाग्भटः श्रीबाहड इति तनय आसीत् । कीदृशः । सूरोऽपि बुधः । विरोधालङ्कारोऽत्र समवगन्तव्यः । उत्प्रेक्षते—ब्रह्माण्डशुक्तिसम्पुटमौक्तिकमणेः प्रभासमूह इव तथा ॥ १४७ ॥

ब्रह्माण्डरूप सीपी से उत्पन्न मुक्तामणि के समान उन सोम (सोमदेव अथवा चन्द्रमा) को कान्तिपुञ्ज के समान श्रीवाग्भट नामक बुद्धिमान् (अथवा बुधग्रह) पुत्र उत्पन्न हुआ ।

टिप्पणी—ब्रह्माण्ड-सीपी में रूपक, सोम में श्लेष, श्रीवाग्भट का वर्णन होने से जाति और कान्तिपुञ्ज के समान इस कथन से उत्प्रेक्षालङ्कार है । अतः रूपक, श्लेष, जाति और उत्प्रेक्षा—इन अलङ्कारों के सम्मिश्रण से यहाँ पर 'संकर' नामक अलङ्कार है ॥ १४७ ॥

चारश्लोकेषु येऽलङ्कारा यथानामानः कथितास्ते सर्वे व्याख्याताः । अन्येषु ग्रन्थेष्वन्ये बहवोऽलङ्काराः श्रूयन्ते, तेऽत्र नोक्ता इत्याह—

अचमत्कारिता वा स्यादुत्कान्तमेव एव च ।
अलङ्क्रियाणामन्यासामनिबन्धे निबन्धनम् ॥ १४८ ॥

अन्यासामलङ्क्रियाणामनिबन्धने अकथने निबन्धनं कारणम् । अचमत्कारिता स्यात् । उक्तेभ्योऽन्येषां मध्ये न कोऽपि तादृक्चमत्कारः । चमत्कारं विना कथनप्रयास एव स्यान्न फलं किमपि अथवा उत्कान्तमेव एव । अनुक्ता उक्तान्तरन्तर्भवन्तीत्यर्थः ॥ १४८ ॥

(असंगति आदि) अन्य अलङ्कारों की यहाँ पर विवेचना न करने का कारण

यह है कि या तो इन (असंगति आदि) में चमत्कार ही नहीं होता अथवा वे पूर्वप्रतिपादित अलङ्कारों में समाविष्ट हो जाते हैं ॥ १४८ ॥

अथ रीतिद्वारमाह—

द्वे एव रीती गौडीया वैदर्भी चेति सान्तरे।
एका भूयःसमासा स्यादसमस्तपदापरा ॥ १४९ ॥

अत्र द्वे एव रीती भवतः। गौडीया वैदर्भी चेति। यतस्ते द्वे सान्तरे अन्तरसहिते पृथक्पृथग्रूपे। तद्दर्शयन्ति—एका गौडीया बहुसमासा स्यात्। द्वितीया वैदर्भी असमस्तपदा अल्पसमासा भवेत् ॥ १४९ ॥

गौडी और वैदर्भी—ये ही दो रीतियाँ हैं। इनमें एक (गौडी रीति) समास-बहुला होती है और दूसरी (वैदर्भी) रीति में समस्त पदों की संख्या अत्यन्त न्यून अथवा नहीं ही होती ॥ १४९ ॥

अथ गौडीयोदाहरणमाह—

दर्पोत्पाटिततुङ्गपर्वतशतप्रावप्रपाताहति-
क्रूराक्रन्ददतुच्छकच्छपकुलक्रेङ्कारघोरीकृतः।
विश्वं बर्बरबध्यमानपयसः शिप्रापगायाः स्फुर-
न्नाक्रामत्ययमक्रमेण बहुलः कल्लोलकोलाहलः ॥ १५० ॥

अयं शिप्रापगायाः शिप्रानद्या बहुलः कल्लोलकोलाहलो विश्वमक्रमेणाक्रामति। कीदृशः। दर्पोत्पाटितं तुङ्गपर्वतशतप्रावप्रपातस्य आहत्या आहननेन क्रूरं यथा भवति तथाक्रन्दन्तो यानि अतुच्छकच्छपकुलानि तेषां क्रेङ्कारशब्दैर्घोरीकृतः। कीदृश्या नद्याः। बर्बरबध्यमानपयसः। बर्बरो राक्षसः कोऽपि, अन्यो वा कोऽपि महान्, येन बध्यमानं पयो यस्यास्तस्याः। एषा बहुसमासा गौडीया रीतिः ॥ १५० ॥

बर्बर नामक राक्षस के द्वारा रोके हुए जल वाली सिप्रा नदी का, अभिमान से उखाड़े हुए ऊँचे-ऊँचे सैकड़ों पर्वतों के प्रस्तरखण्डों के गिरने से ताड़ित होकर अत्यन्त कठोर नाद करता हुआ, बड़े-बड़े आकार वाले कछुओं के समूह की ध्वनि से घोर रव करने वाला, चारों ओर फैला हुआ अत्यन्त विस्तृत लहरों का यह शब्द सहसा विश्व भर में फैल रहा है।

टिप्पणी—इस श्लोक में दीर्घ समासयुक्त पदों के होने के कारण गौडी रीति है ॥ १५० ॥

अथ वैदर्भीमुदाहरति—

विप्राः प्रकृत्यैव भवन्ति लोला लोकोक्तिरेषा न मृषा कदाचित्।
यच्चुम्ब्यमानां मधुपैर्द्विजेशः श्लिष्यत्ययं कैरविणीं कराग्रैः ॥ १५१ ॥

यथास्मात्कारणाद्द्विजेशो विप्रश्चन्द्रो वा मधुपैर्मद्यपैर्भ्रमरैश्च चुम्ब्यमानां कैरविणीं कुमुदिनीं कराग्रैः स्पृशति । श्लेषालङ्कारः । एषा द्वितीया वैदर्भी रीतिः ॥ १५१ ॥

ब्राह्मण लोग स्वभाव से ही चञ्चल होते हैं—यह लोकोक्ति तनिक भी मिथ्या नहीं है । क्योंकि देखो ! यह चन्द्रमा (अथवा ब्राह्मणों में श्रेष्ठ व्यक्ति) भ्रमरों (अथवा मदिरापान करने वालों) के द्वारा चुम्बित कुमुदिनी (अथवा 'कैरव' जाति की किसी सुन्दरी) का किरणों (अथवा हाथों) से स्पर्श (अथवा आलिङ्गन) कर रहा है ।

टिप्पणी—इस श्लोक में या तो समस्त पद है ही नहीं अथवा अत्यन्त अल्प समास हैं । अतः यह वैदर्भी रीति का उदाहरण है ॥ १५१ ॥

उपसंहारमाह—

अर्थेन येनातिचमत्करोति प्रायः कवित्वं कृतिनां मनःसु ।
अलङ्क्रियात्वेन स एव तस्मिन्नभ्यूह्यतां हन्त दिशानयैव ॥ १५२ ॥

कृतिनां मनःसु येनार्थेन कवित्वमतिचमत्करोति अतिचमत्कारमुत्पादयति । हन्त इति विचारे । स एवार्थस्तस्मिन्कवित्वेऽनयैव पूर्वोक्तदिशालंक्रियात्वेनालङ्कारत्वेनाभ्यूह्यतां विचार्यताम् । समाप्ता रीतयः ॥ १५२ ॥

इति वाग्भटालङ्कारटीकायां चतुर्थः परिच्छेदः ।



काव्य-कला-मर्मज्ञों के मन में जिस अर्थ के कारण काव्य प्रायः अत्यन्त चमत्कार को उत्पन्न करता है, उस (काव्य) में उस (अर्थ) को ही मेरे द्वारा वर्णित रीति से अलङ्काररूप में समझना चाहिये ॥ १५२ ॥

चतुर्थ परिच्छेद समाप्त



पञ्चमः परिच्छेदः

'स्फुटरीतिरसोपेतम्' इति (रीतयो व्याख्याताः । अधुना) रसानाह—

साधुपाकेऽप्यनास्वाद्यं भोज्यं निर्लवणं यथा ।
तथैव नीरसं काव्यमिति ब्रूमो रसानिह ॥ १ ॥

यथा साधुपाकेऽपि भोज्यं निर्लवणं लवणरहितमनास्वाद्यं भवति, तथा काव्यमपि नीरसं रसरहितमनास्वाद्यं भवति । इत्येतस्मात्कारणाद्रसान्ब्रूमः ॥ १ ॥

जिस प्रकार उत्तम से उत्तम रीति से पकाया हुआ भोजन भी नमक के बिना स्वादहीन रहता है, उसी प्रकार रसहीन काव्य भी अनास्वाद्य होता है । इसीलिये यहाँ पर रसों का वर्णन किया जा रहा है ॥ १ ॥

विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः ।
आरोप्यमाण उत्कर्षं स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥ २ ॥

विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभाव और सात्त्विक भावों से परिपोष को प्राप्त कराये गये स्थायीभाव को रस कहते हैं ।

टिप्पणी—विशेषरूप से रसों की भावना कराने वाले स्त्री, वसन्त और उद्यानादि को विभाव कहते हैं । 'साहित्यदर्पण'कार ने विभावों को इस प्रकार बतलाया है—

'रत्याद्युद्बोधको लोके विभावः काव्यनाट्ययोः ।
आलम्बनोद्दीपनाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥
आलम्बनं नायकादिस्तमालम्ब्य रसोद्गमात् ।
उद्दीपनविभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये ॥
आलम्बनस्य चेष्टाद्या देशकालादयस्तथा ॥'

जिसके द्वारा सूक्ष्मरूप से हृदय में उत्पन्न होने वाले रस का अनुभव किया जाता है उन्हें अनुभाव कहते हैं, जैसा कि साहित्यदर्पण में कहा गया है—

'उद्बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन् ।
लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः ॥'

रजोगुण और तमोगुण से रहित सतोगुण से युक्त स्तम्भ और स्वेदादि विकार सात्त्विक भाव कहलाते हैं । इसीलिये साहित्यदर्पण में कहा गया है—

'विकाराः सत्त्वसम्भूताः सात्त्विकाः परिकीर्तिताः ।
स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः ॥
वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ॥'

व्यभिचारीभाव उन्हें कहते हैं जो मुख्यरूप से उत्पन्न होते हैं जैसे निर्वेद, आवेग आदि । पण्डितराज विश्वनाथ ने भी कहा है—

'ये तूत्कर्षमायान्ति स्थायिनं रसमुत्तमम् ।
उपकृत्य च गच्छन्ति ते मता व्यभिचारिणः ॥'

व्यभिचारीभावों को पुष्ट करने वाले भावों को संचारीभाव कहते हैं—

'रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चेत्थमष्टौ प्रोक्ताः शमोऽपि च' ॥ २ ॥

शृङ्गारवीरकरुणहास्याद्भुतभयानकाः ।
रौद्रबीभत्सशान्ताश्च नवैते निश्चिता बुधैः ॥ ३ ॥

एते नव रसाः शृङ्गारादयः । नवानां रसानामेकैकः स्थायीभावः पृथक् पृथक् ।

शृङ्गार, वीर, करुण, हास्य, अद्भुत, भयानक, रौद्र, बीभत्स और शान्त ये नव रस आचार्यों के द्वारा बतलाये गये हैं ॥ ३ ॥

ते चामी—

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहभयं तथा ।
जुगुप्सा विस्मयशमाः स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः ॥ ४ ॥

अमी क्रमेण नव स्थायिनो भावाः शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकबीभत्साद्भुतशान्ताः क्रमेण नव रसा ज्ञेयाः । विशेषेण भावयन्त्युत्पादयन्ति रसमिति विभावाः स्त्रीवसन्तोद्यानादयः उत्पत्तिकारणानि । एभ्यः शृङ्गारोत्पत्तिरित्यर्थः । विभावो रसकारणम् । तथा—अनुभूयते लक्ष्यते रस एभिरित्यनुभावाः कम्पस्वेदमुखविकारनेत्रोल्लासादयः । रसोत्पत्तौ सत्यां पश्चाद्ये भावा जायन्ते तेऽनुभावा ज्ञेयाः । तथा सात्त्विकभावाः स्तम्भस्वेदरोमाञ्चाद्या अष्टौ समवगन्तव्याः । तथा व्यभिचारिणः सहचारिणो भावा धृतिस्मृतिमत्यादयः । एभिर्विभावैरनुभावैः सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिरुत्कर्षमारोप्यमाणः स्थायीभावो रसः स्यात् । स्थायीभावः शृङ्गारादिरसरूपेण भवति । पूर्वोक्ताः स्थायिनो भावा रत्यादयो विभावादिभिर्व्यक्तीकृताः सन्तो रसाः शृङ्गारादयो नवापि भवन्तीत्यर्थः ॥ ४ ॥

(पूर्ववर्णित नव रसों के) रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और शम–क्रमशः नवेन स्थायिभाव गिनाये गये हैं ॥ ४ ॥

शृङ्गारस्वरूपमाह—

जायापत्योर्मिथो रत्यां वृत्तिः शृङ्गार उच्यते ।
संयोगो विप्रयोगश्चेत्येष तु द्विविधो मतः ॥ ५ ॥

जायापत्योः कलत्रभर्त्रोः रत्यां प्रीत्यां मिथो वृत्तिः परस्परवर्णनं शृङ्गार उच्यते । एष शृङ्गारो द्विविधो मतः । कथम् । संयोगो विप्रयोगश्च । संयुक्तयोर्दम्पत्योः सम्भो(यो)गात्मकः शृङ्गारः । वियुक्तयोस्तु विप्रलम्भात्मकः शृङ्गारः ॥ ५ ॥

स्त्री और पुरुष के परस्पर प्रेम को शृङ्गार कहते हैं। यह शृङ्गार दो प्रकार का होता है—संयोगशृङ्गार और विप्रलम्भशृङ्गार ॥ ५ ॥

तौ तयोर्भवतो वाच्यौ बुधैर्युक्तवियुक्तयोः ।
प्रच्छन्नश्च प्रकाशश्च पुनरेष द्विधा मतः ॥ ६ ॥

तौ संयोगविप्रलम्भौ तयोर्जायापत्योः क्रमाद्युक्तवियुक्तयोर्बुधैर्वाच्यौ भवतः। पुनरेष शृङ्गाररसो द्विधा मतः। प्रच्छन्नश्च प्रकाशश्च। विशेषमनयोर्ज्ञापयिष्यामः ॥ ६ ॥

अलङ्कारशास्त्री उन (स्त्री और पुरुष) के मिलन को संयोगशृङ्गार और उन (स्त्री-पुरुष) के वियोग को विप्रलम्भशृङ्गार कहते हैं। पुनः शृङ्गार के दो भेद और किये गये हैं—प्रकट और अप्रकट ॥ ६ ॥

अथ शृङ्गाररसनायकमाह—

रूपसौभाग्यसम्पन्नः कुलीनः कुशलो युवा ।
अनुद्धतः सूनृतवाक् ख्यातो नेतात्र सद्गुणः ॥ ७ ॥

अत्र शृङ्गारे नेता नायकः कथितः। कीदृशः। रूपसौभाग्ययुक्तः। रूपशब्देन लावण्यम्। कुलीनः सुकुलोद्भवः। कुशलः सकलकलाकोविदः। युवा यौवने वर्तमानः। अनुद्धतः सौम्याकृतिक्रियः। सूनृतवाक् सत्यवाक्। सद्गुणः ॥ ७ ॥

यहाँ (शृङ्गार रस में) नायक है वह रूप और सौभाग्य से सम्पन्न, सत्कुलोत्पन्न, (कलाओं में) दक्ष, सौम्य स्वभाववाला, सत्य एवं मधुर वाणी बोलनेवाला, सद्गुणी और युवक होता है ॥ ७ ॥

अयं च विबुधैरुक्तोऽनुकूलो दक्षिणः शठः ।
धृष्टश्चेति चतुर्धा स्यान्नायिका स्याच्चतुर्विधा ॥ ८ ॥

अयं च नायको विबुधैश्चतुर्धा उक्तः। अनुकूलो दक्षिणः शठो धृष्टश्चेति। अस्य नायकस्य नायिका चतुर्विधा स्यात् ॥ ८ ॥

विद्वानों ने उस नायक के चार भेद इस प्रकार किये हैं—अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट। इसी प्रकार से नायिकाओं के भी चार भेद हैं (जिनका उल्लेख आगे किया जायगा) ॥ ८ ॥

अथानुकूलादीनां लक्षणान्याह—अनुकूललक्षणं तावदाह—

नीलीरागोऽनुकूलः स्यादनन्यरमणीरतः ।
दक्षिणश्चान्यचित्तोऽपि यः स्यादविकृतः स्त्रियाम् ॥ ९ ॥

नीलीरागोऽनुकूलो भवति। यथा—नीली गुली तस्या रागो नीसरति। सोऽनुकूलो नायकः परं सोऽन्यरमणीरतो न स्यात्। अन्यस्यां चित्तं यस्य सोऽन्यचित्तः स दक्षिणो भवति। कीदृक्। स्त्रियामविकृतः सपत्न्यां विकारं मारणस्तम्भनकुष्ठनादिकं न दर्शयतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

'अनुकूल' नायक वह है जो किसी अन्य स्त्री में आसक्त न हो वरन् जिसका अपनी स्त्री में अनुराग 'नील' के समान पक्का हो। जो नायक अन्य स्त्री में आसक्त होने पर भी अपनी स्त्री के प्रति प्रेम में विकार नहीं उत्पन्न होने देता उसे 'दक्षिण' नायक कहते हैं ॥ ९ ॥

2 1166

प्रियं वक्त्यप्रियं तस्याः कुर्वन्यो विकृतः शठः ।
धृष्टो ज्ञातापराधोऽपि न विलक्षोऽवमानितः ॥ १० ॥

तथा यो विकृतो विकारमापन्नस्तस्याः स्वपत्न्या अप्रियं कुर्वन् प्रियं वक्ति स शठनायकः। यो ज्ञातापराधोऽपि विलक्षो न भवति स धृष्टनायकः ॥ १० ॥

जो परोक्ष में तो अपनी स्त्री का अहित करता हो किन्तु उसके सामने पड़ते ही (उसे दिखाने के लिये) अपने अन्दर किसी विकार को उत्पन्न न होने देकर मीठी मीठी (बनावटी) बातें करता है उसे 'शठ' नायक कहते हैं। और 'धृष्ट' नायक वह है जो (परस्त्रीगमनरूप) अपराध प्रकट हो जाने से अपनी स्त्री के द्वारा अपमानित होने पर भी लज्जित नहीं होता ॥ १० ॥

अथ सामान्येन चतुर्विधां स्त्रियमभिधत्ते—यथा शृङ्गाररसस्य नायको युवा पुमान्माकथितस्तस्य नायकस्य पुरुषरूपस्य नायिकापि चतुर्विधा भवति । तामाह—

अनूढा च स्वकीया च परकीया पणाङ्गना ।
त्रिवर्गिणः स्वकीया स्यादन्याः केवलकामिनः ॥ ११ ॥

स्त्रियश्चतुर्विधाः । अनूढा स्वकीया परकीया पण्याङ्गना च । त्रिवर्गिणो धर्मार्थकामयुक्तस्य स्वकीया परिणीता स्यात् । अन्या अनूढाद्यास्तिस्रः केवलकामिनो भवन्ति ॥ ११ ॥

नायिकायें चार प्रकार की कही गई हैं—अनूढा, स्वकीया, परकीया और पराङ्गना। इनमें जो स्वकीया नायिका है वह उस नायक की होती है जो धर्म, अर्थ और काम की इच्छा रखता है; और जो केवल कामी नायक होते हैं उनके लिए अन्य (अनूढा, परकीया और पराङ्गना) नायिकायें हैं ॥ ११ ॥

आसां लक्षणमाह—

अनुरक्तानुरक्तेन स्वयं या स्वीकृता भवेत् ।
सानूढेति यथा राज्ञो दुष्यन्तस्य शकुन्तला ॥ १२ ॥

अनुरक्तेन नरेणानुरक्ता सती या स्वीकृता भवति सानूढोच्यते । यथा—दुष्यन्तस्य राज्ञः शकुन्तला नायिका ॥ १२ ॥

जो (अविवाहिता) अनुरक्ता नायिका किसी आसक्त नायक के द्वारा (बिना गुरुजनों की आज्ञा के) स्वयं ही स्वीकार कर ली जाय, उसे 'अनूढा' नायिका कहते हैं। जिस प्रकार राजा दुष्यन्त की नायिका शकुन्तला थी ॥ १२ ॥

देवतागुरुसाक्ष्येण स्वीकृता स्वीयनायिका ।
क्षमावत्यतिगम्भीरप्रकृतिः सच्चरित्रभृत् ॥ १३ ॥

देवतागुरुसाक्ष्येण स्वीकृता स्वीयनायिका स्वकीया समवगन्तव्या । सा क्षमावती अतिगम्भीरप्रकृतिः सच्चरित्रभृत्प्रधानचरित्रवती ॥ १३ ॥

जो क्षमाशील, अत्यन्त गम्भीर प्रकृतिवाली, सच्चरित्रता से युक्त स्त्री देवता और गुरुजनों को साक्षी मान कर स्वीकार की जाती है, उसे 'स्वकीया' नायिका कहते हैं ॥ १३ ॥

परकीयाप्यनूढेव वाच्यभेदोऽस्ति चानयोः ।
स्वयमप्यतिकामैका सख्यैवैका प्रियं वदेत् ॥ १४ ॥

परकीयापि स्त्री अनूढेव वाच्या । परमनयोः परकीयानूढयोर्वाच्यभेदोऽस्ति न तादृग्विशेषः कोऽपि । तथापि विशेषमाह—एका परकीया अतिकामाकुला सती स्वयमपि प्रियं वदेत् । एका द्वितीया अनूढा लज्जया स्वयं न वदेत् । परं कामाकुला सती सख्यैव सखीद्वारेणैव प्रियं वदेत् ॥ १४ ॥

'परकीया' भी 'अनूढा' के समान ही होती है; इन दोनों में केवल कहने भर का भेद है। किन्तु एक (परकीया) अत्यन्त कामातुर होकर स्वयं ही प्रिय वचनों से अपने (सुरति-अभिलाषारूप) आशय को प्रकट करती है; और दूसरी (अनूढा) अपने आशय को सखी के द्वारा ही व्यक्त करती है ॥ १४ ॥

सामान्यवनिता वेश्या भवेत्कपटपण्डिता ।
न हि कश्चित्प्रियस्तस्या दातारं नायकं विना ॥ १५ ॥

अथ सामान्यवनिता कपटपण्डिता वेश्या पण्याङ्गना भवेत् । तस्या दातारं विना नायकं न हि कश्चित्प्रियो भवति । यो दाता स एव नायकस्तस्या नान्यः प्रिय इति ॥ १५ ॥

छल-कपट में चतुर वेश्या 'पराङ्गना' कहलाती है। धन देने वाले नायक के अतिरिक्त उस नायिका को और कोई भी व्यक्ति प्रिय नहीं होता ॥ १५ ॥

अथ शृङ्गारस्य प्रकाशप्रच्छन्नभेदद्वयमाह—

सर्वप्रकाशमेवैषा याति नायकमुद्धता ।
वाच्यः प्रच्छन्न एवान्यस्त्रीणां प्रियसमागमः ॥ १६ ॥

एषा पण्याङ्गनोद्धता सती सर्वप्रकटमेव नायकं प्रति याति । प्रकाशो रसः । अन्यस्त्रीणां प्रियसमागमः प्रच्छन्न एव भवति । एष प्रच्छन्नः शृङ्गाररसः । समासः संभोगशृङ्गारः ॥१६॥

यह (वेश्या) कामातुर होकर सबके सामने ही अपने नायक के पास चली जाती है; किन्तु अन्य (अनूढा, स्वकीया और परकीया) नायिकाओं का अपने प्रियतम के पास समागम गुप्त ही वर्णित किया जाता है ॥ १६ ॥

विप्रलम्भशृङ्गारमाह—

पूर्वानुरागमानात्मप्रवासकरुणात्मकः।
विप्रलम्भश्चतुर्धा स्यात्पूर्वपूर्वो ह्ययं गुरुः॥ १७॥

पूर्वानुरागात्मको विप्रलम्भो मानात्मको विप्रलम्भः प्रवासात्मको विप्रलम्भः करुणात्मको विप्रलम्भ इति विप्रलम्भश्चतुर्धा। अयं विप्रलम्भः पूर्वः पूर्वो गुरुः। मानात्पूर्वानुरागो गुरुरित्यर्थः॥ १७॥

विप्रलम्भ शृङ्गार चार प्रकार का होता है—पूर्वानुरागात्मक, मानात्मक, प्रवासात्मक और करुणात्मक। इनमें क्रमशः पूर्व प्रकार का वियोग उत्तरोत्तर से श्रेष्ठ समझा जाता है। जैसे करुणात्मक की अपेक्षा प्रवासात्मक, प्रवासात्मक की अपेक्षा मानात्मक और मानात्मक की अपेक्षा पूर्वानुरागात्मक विप्रलम्भ उत्तम माना जाता है॥ १७॥

अथ क्रमेणैषां लक्षणान्याह—

स्त्रीपुंसयोर्नयालोकादेवोल्लसितरागयोः।
ज्ञेयः पूर्वानुरागोऽयमपूर्णस्पृहयोर्दशा॥ १८॥

स्त्रीपुंसयोर्नयालोकादिना दर्शनादिनोल्लसितरागयोः परस्परमपूर्णस्पृहयोर्दशावस्था। अयं पूर्वानुरागविप्रलम्भः शृङ्गारः॥ १८॥

प्रथम दर्शन (अथवा श्रवण) मात्र से ही जिन स्त्री-पुरुषों में परस्पर अनुराग उत्पन्न हो गया हो, किन्तु जिनकी समागमाभिलाषा अभी पूरी न हुई हो उन स्त्री-पुरुषों की दशा को पूर्वानुराग कहते हैं॥ १८॥

मानोऽन्यवनितासङ्गादीर्ष्याविकृतिरुच्यते।
प्रवासः परदेशस्थे प्रिये विरहसम्भवः॥ १९॥

तथा पत्युरन्यवनितासङ्गात्पत्न्या या ईर्ष्याविकृतिरीर्ष्यया विकारो भवति स मानात्मको विप्रलम्भशृङ्गारः। तथा परदेशस्थे भर्तरि पत्न्या विरहसंभवः प्रवासात्मको विप्रलम्भशृङ्गारः॥ १९॥

प्रिय के अन्य स्त्री में आसक्त होने के कारण ईर्ष्यावश नायिका के हृदय में जो विकार उत्पन्न हो जाता है उसी को मान कहते हैं; और प्रिय के परदेस में होने पर जो वियोग उत्पन्न होता है उसको प्रवास कहते हैं॥ १९॥

स्यादेकतरपञ्चत्वे दम्पत्योरनुरक्तयोः।
शृङ्गारः करुणाख्योऽयं वृत्तवर्णन एव सः॥ २०॥

अनुकूलयोर्दम्पत्योर्जायापत्योरेकतरपञ्चत्वे द्वयोरेकतरविनाशे करुणात्मको विप्रलम्भशृङ्गारः। स वृत्तवर्णन एव भवति। अन्ये हास्याद्भुतादयो रसा वृत्ते श्लोके वा सम्पूर्णेन॥

अयं तु शृङ्गारकरुणाख्यो वृत्तवर्णने सम्पूर्णे प्रबन्धे भवति । यथा रतिविलापे कुमारसम्भवे ॥

परस्पर अनुरक्त स्त्री-पुरुष में किसी एक-स्त्री अथवा पुरुष के देहावसान हो जाने पर करुण शृङ्गार उत्पन्न होता है । (करुण शृङ्गार) वृत्तवर्णन में ही होता है (जैसे कि 'कादम्बरी' में पुण्डरीक और महाश्वेता का वृत्तान्त है) ॥ २० ॥

शृङ्गाररसं तत्सम्बन्धि चान्यदपि सर्वमुक्त्वा वीरादीन्रसानाह—

तत्र वीरमाह—

उत्साहात्मा भवेद्वीरस्त्रिधा धर्माजिदानतः ।
नायकोऽत्र भवेत्सर्वैः श्लाघ्यैरधिगतो गुणैः ॥ २१ ॥

वीरो रस उत्साहात्मा भवति । स त्रिधा—धर्माजिदानतः । धर्मवीरः संग्रामवीरो दानवीर इति । अत्र वीररसे सर्वैः श्लाघनीयगुणैरधिगतो नायको भवति ॥ २१ ॥

वीर रस का स्थायीभाव 'उत्साह' है; वह (वीर रस) तीन प्रकार का होता है—धर्मवीर, युद्धवीर और दानवीर । यहाँ (वीर रस का) नायक सभी प्रशंसनीय गुणों से सम्पन्न रहता है ॥ २१ ॥

करुणमाह—

शोकोत्थः करुणो ज्ञेयस्तत्र भूपातरोदने ।
वैवर्ण्यमोहनिर्वेदप्रलापाश्रूणि कीर्तयेत् ॥ २२ ॥

करुणो नाम रसः शोकोत्थः शोकात्मको ज्ञातव्यः । तत्र रसे भूपातरोदने वैवर्ण्यमोहनिर्वेदप्रलापाश्रूणि कीर्तयेत् । भूपातो भूमौ लुठनं तथा रोदनम् , वैवर्ण्यं विवर्णभावः, मोहो मौढ्यम् , निर्वेदो विषादः, प्रलापः प्रकृष्टं जपनम् , अश्रूणि अश्रुपातः । करुणरसे एते भवन्ति भावाः । अतोऽत्र रसे एते भावा वर्ण्यन्ते ॥ २२ ॥

शोक से उत्पन्न (अथवा शोक स्थायीभाव वाले) रस को करुण कहते हैं । इस (करुण रस) में पृथ्वी पर (पछाड़ खाकर) गिरना, रुदन, (मुख का) पीलापन, मूर्च्छा, वैराग्य, प्रलाप और अश्रुओं का वर्णन किया जाता है ॥ २२ ॥

हास्यमाह—

हासमूलः समाख्यातो हास्यनामा रसो बुधैः ।
चेष्टाङ्गवेषवैकृत्याद्वाच्यो हास्यस्य चोद्भवः ॥ २३ ॥

हास्यनामा रसो बुधैर्हासमूलः समाख्यातः । तस्य हास्यरसस्य सम्भव उत्पत्तिश्चेष्टाङ्गवेषवैकृत्याद्भवति ॥ २३ ॥

'हास्य' का स्थायीभाव है हँसी; यह (हास्य रस) प्रायः चेष्टा, अङ्ग और वेषजनित विकार से उत्पन्न होता है ॥ २३ ॥

अथोत्तममध्यमाधमभेदेन हास्यरसस्वरूपमाह—

कपोलाक्षिकृतोल्लासमोष्ठे तिष्ठन्स उत्तमः।
मध्यमानां विदीर्णास्यः सोऽधराणां सशब्दकः ॥ २४ ॥

कपोलाक्षिकृतोल्लासमोष्ठे तिष्ठन्नोष्ठमात्राश्रयश्च भवति स उत्तमः। मध्यमानां विदीर्णास्यः प्रसृताननो भवति। स च हास्यरसोऽधराणां नीचानां सशब्दको महाशब्दसहितो भवति ॥ २४ ॥

हास्य के तीन भेद बतलाये गये हैं—सज्जनों की हँसी ऐसी होती है कि उनके कपोल और नेत्र तो प्रफुल्लित हो उठते हैं किन्तु उनके ओठ नहीं खुलने पाते (इसे मन्दस्मित कहते हैं)। मध्यम श्रेणी के व्यक्तियों की हँसी में उनका मुख खुल जाता है (जिससे दाँत दिखाई देने लगते हैं); किन्तु नीच जनों का हास्य शब्दयुक्त होता है (जिसे अट्टहास कहते हैं) ॥ २४ ॥

अद्भुतमाह—

विस्मयात्माद्भुतो ज्ञेयः स चासम्भाव्यवस्तुनः।
दर्शनाच्छ्रवणाद्वापि प्राणिनामुपजायते ॥ २५ ॥

अद्भुतो रसो विस्मयस्थायिभावात्मकः। स च प्राणिनामसम्भाव्यवस्तुनो दर्शनाच्छ्रवणाद्वा समुपजायते। एतेनास्य द्विधोत्पत्तिरभिहिता ॥ २५ ॥

अद्भुत रस का स्थायीभाव आश्चर्य है। वह (अद्भुत) रस प्राणियों (के हृदय) में तब उत्पन्न होता है जब वे किसी असम्भव वस्तु को देखते अथवा सुनते हैं ॥ २५ ॥

अस्य रसस्य विभावादीन्दर्शयति—

तत्र नेत्रविकासः स्यात्पुलकः स्वेद एव च।
निःस्पन्दनेत्रता साधुसाधुवाग्गद्गदा च गीः ॥ २६ ॥

तत्राद्भुतरसे जाते नेत्रयोर्विकासः स्यात्। रोमाञ्चस्वेदौ भवतः। निःस्पन्दनेत्रता भवति। नेत्राणि निस्स्पन्दानि भवन्ति। साधुसाधुवाग्भवति। गीर्गद्गदा च स्यात् ॥ २६ ॥

वहाँ (अद्भुत रसमें) नेत्र विकसित हो जाते हैं, शरीर पुलकित हो उठता है, पसीना आ जाता है, नेत्रों की स्फुरणा बन्द हो जाती है, (देखने वाले के) मुख से 'साधु साधु' का शब्द निकल पड़ता है और वाणी गद्गद हो जाती है ॥

भयानकमाह—

भयानको भवेद्भीतिप्रकृतिर्घोरवस्तुनः।
स च प्रायेण वनितानीचबालेषु शस्यते ॥ २७ ॥

भयानको रसो घोरवस्तुदर्शनाद्भवेत् । भीतिप्रकृतिर्भयस्वभावः । स भयानको रसः प्रायेण स्त्रीषु नीचेषु बालेषु प्रशस्यते । भयरसो व्यावर्ण्यमानो नूनमेतेष्वेव शोभते नान्यत्रास्य दीप्तिः ॥ २७ ॥

भयानक का स्थायीभाव भय है । वह (भय) किसी भयङ्कर वस्तु को देखने से उत्पन्न होता है । भयानक रस का वर्णन प्रायः स्त्री, नीच जन और बालकों के सम्बन्ध में ही किया जाता है ॥ २७ ॥

इदानीमस्य विभावादीन्दर्शयति—

दिगालोकास्यशोषाङ्गकम्पगद्गदसम्भ्रमाः ।
त्रासवैवर्ण्यमोहाश्च वर्ण्यन्ते विबुधैरिह ॥ २८ ॥

अस्माद्भयानकादेते पदार्था उत्पद्यन्ते । अतोऽत्र रसे एते व्यावर्ण्यन्ते । एते के । दिगालोको दिग्दर्शनम्, मुखशोषः, शरीरकम्पः, गद्गदा वाणी, संभ्रमः, तथा त्रासः, वैवर्ण्यं विवर्णभावः, मोहो मूढता । सर्वत्र भवति भयेन । इदानीं वर्ण्यन्ते बुधैर्भावाः ॥ २८ ॥

विद्वानों ने भयानक रस के अनुभावों का वर्णन इस प्रकार से किया है—चारों ओर देखना, मुँह का सूखना, (हाथ-पाँव आदि) अङ्गों का काँपना, वाणी का स्खलन, सम्भ्रान्ति, भय, शरीर पीला पड़ जाना और मूर्च्छा ॥ २८ ॥

रौद्ररसमाह—

क्रोधात्मको भवेद्रौद्रः क्रोधश्चारिपराभवात् ।
भीष्मवृत्तिर्भवेदुग्रः सामर्षस्तत्र नायकः ॥ २९ ॥
स्वांसाघातस्वशंसास्त्रोत्क्षेपभ्रुकुटयस्तथा ।
अत्रारातिजनाक्षेपोद्वेलनं चोपवर्ण्यते ॥ ३० ॥

रौद्ररसः क्रोधात्मको भवति । क्रोधश्चारिपराजयाद्भवति । अरिकृतपराजयात्क्रोधः । यदा योऽरिणा पराजीयते तदा तस्य क्रोधो जायत इत्यर्थः । तथा रौद्रे भीष्मवृत्तिरुग्रः सामर्षो नरो नायको भवेत् ॥ २९–३० ॥

रौद्र रस का स्थायीभाव क्रोध है जो शत्रु द्वारा तिरस्कृत होने पर उत्पन्न होता है । इस (रौद्ररस) का नायक भीषण स्वभाव वाला, उग्र और क्रोधी माना गया है ॥ २९ ॥

रौद्र रस के अनुभाव हैं—अपने कन्धों को पीटना, आत्मश्लाघा, अस्त्रादि का फेंकना, भृकुटि का टेढ़ा हो जाना, शत्रुओं की निन्दा और मर्यादा का उल्लंघन करना ॥ ३० ॥

बीभत्समाह—

बीभत्सः स्याज्जुगुप्सातः सोऽहृद्यश्रवणेक्षणात् ।
निष्ठीवनास्यभङ्गादि स्यादत्र महतां न च ॥ २१ ॥

बीभत्सो रसो जुगुप्साभावप्रभवः स्यात् । विभावादीनस्योद्दिशति । स चाहृद्यश्रवणाद् विरूपपदार्थाकर्णनात् विरूपवस्तुनो दर्शनाच्च । निष्ठीवनकुत्सितास्यभङ्गादि स्यात् तदनुभाव-सम्पन्नः स्यात् । परं महतामुत्तमानां निष्ठीवनादयो भावा न प्रयोक्तव्याः ॥ २१ ॥

बीभत्स का स्थायीभाव जुगुप्सा है । वह अग्राह्य (अथवा ग्लानि उत्पन्न करने वाली वस्तु) के देखने-सुनने से उत्पन्न होता है । थूकना और मुखादि को विकृत करना आदि इसके अनुभाव हैं; किन्तु इन (थूकना आदि) अनुभावों का वर्णन उत्तम जनों के सम्बन्ध में नहीं किया जाता ॥ २१ ॥

शान्तमाह—

सम्यग्ज्ञानसमुत्थानः शान्तो निःस्पृहनायकः ।
रागद्वेषपरित्यागात्सम्यग्ज्ञानस्य चोद्भवः ॥ २२ ॥

शान्तो रसः सम्यग्ज्ञानसमुत्थानो भवति । अस्य शान्तरसस्य निःस्पृहो नायको भवति । शान्तरसवान्निःस्पृहो भवति । स शान्तरसो रागद्वेषपरित्यागात्सम्यग्ज्ञानस्य सम्भव उत्पत्तिकारणम् ॥ २२ ॥

शम अथवा तत्त्व-ज्ञान से शान्तरस की उत्पत्ति होती है । शान्तरस का नायक (पुत्रधनादि की) इच्छाओं से रहित होता है । यथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति रागद्वेषादि के परित्याग से ही होती है ॥ २२ ॥

दोषैरुज्झितमाश्रितं गुणगणैश्चेतश्चमत्कारिणं
नानालङ्कृतिभिः परीतमभितो रीत्या स्फुरन्त्या सताम् ।
तैस्तैस्तन्मयतां गतं नवरसैराकल्पकालं कवि-
स्रष्टारो घटयन्तु काव्यपुरुषं सारस्वताध्यायिनः ॥ २३ ॥

सारस्वताध्यायिनः कविस्रष्टार आकल्पकालं कल्पकालं यावत् काव्यपुरुषं घटयन्तु रचयन्तु । कीदृक् । विशेषणानि सुगमानि ॥ २३ ॥

लाटी हास्यरसे प्रयोगनिपुणै रीतिः प्रबन्धे कृता
पाञ्चाली करुणा भयानकरसे शान्ते रसे मागधी ।
गौडी वीररसे च रौद्रजरसे वत्सोमवैशोद्भवा
बीभत्साद्भुतयोर्विदर्भविषया शृङ्गारभूते रसे ॥
द्वित्रिपदा पाञ्चाली लाटीया पञ्च सप्त वा यावत् ।
शब्दाः समासवन्तो भवति यथाशक्ति गौडीया ॥
प्रथमपदा वत्सोमी त्रिपदसमा चापि मागधी भवति ।
उभयोरपि वैदर्भी मुहुर्मुहुर्भाषणं कुरुते ॥

समाप्तेयं श्रीवाग्भटालङ्कारटीका ।

वाग्भट के अध्येता कवि, प्रजापति (आनर्थक्यादि) दोषों से रहित (औदार्यादि) गुणों से युक्त, (उपमादि) अनेक अलङ्कारों से मन में चमत्कार को उत्पन्न करने वाले, (वैदर्भी आदि) रीतियों से शोभित, (शृङ्गारादि) नवरसों के कारण तन्मयता को प्राप्त कराने वाले काव्यपुरुष की चिरकाल तक रचना करते रहें ॥ ६६ ॥

पञ्चम परिच्छेद समाप्त

